

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस है । और वह छह प्रकार का है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त । वह पृथ्वी तथा जल में रहता है; पृथ्वी में छहों प्रकार का तथा जल में केवल मधुर ही होता है ।

(त. बी.) रसं लक्षयति—रसनेति । रसत्वेऽतिव्याप्तिपरिहाराय 'गुण' पदम् । रसस्याश्रयमाह—पृथिवीति ॥ आश्रयं विभज्य दर्शयति—पृथिव्यामिति ॥

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः । स च द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च पृथिवीमात्रवृत्तिः ॥

घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य गुण गन्ध है और वह दो प्रकार का है—सुरभि और असुरभि । यह पृथ्वी में ही रहता है ।

(त. बी.) गन्धं लक्षयति—घ्राणेति । गन्धत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण-पदम् ॥

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः । स च त्रिविधः—शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्, पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः । तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवायवोः ॥

केवल त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है और वह तीन प्रकार का है—शीत, उष्ण तथा अनुष्ण-अशीत, तथा पृथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है । उनमें शीत जल में, उष्ण तेज में तथा अनुष्ण-अशीत पृथ्वी तथा वायु में होता है ।

(त. बी.) स्पर्शं लक्षयति—त्वगिति । स्पर्शत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय 'गुण'—पदम् । संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र' पदम् ॥

रस, गन्ध और स्पर्श

रस, गन्ध और स्पर्श तीनों का वर्णन एक ही प्रकार से है । इसमें कटु का अर्थ तीखा और तिक्त का अर्थ कड़वा है । पृथ्वी में सभी प्रकार के रस हैं जबकि जल में केवल मधुर रस ही है । जल में जो कभी-कभी नमकीनपन इत्यादि आ जाता है, वह पार्थिव तत्त्व के मिल जाने से है ।

गन्ध घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण होती है । यह दो प्रकार की है—सुगन्ध और

दुर्गन्ध । यह केवल पृथ्वी में रहती है । चित्ररस नाम का कोई रस नहीं माना गया क्योंकि हम कभी इसका अनुभव नहीं करते और जब हमें बहुत से रस एक साथ अनुभव होते हुए प्रतीत होते हैं तो वस्तुतः एक रस के अनन्तर दूसरा रस आता है । चित्रगन्ध और चित्रस्पर्श ही नहीं सकते क्योंकि गन्ध और दुर्गन्ध एक दूसरे के विपरीत हैं और दोनों एक में नहीं रह सकते और इसी प्रकार शीत, उष्ण और अनुष्ण स्पर्श भी एक दूसरे के विपरीत होने से एक साथ नहीं रह सकते । रस और गन्ध की परिभाषा में 'मात्र' शब्द इसलिये नहीं दिया गया कि रसना और घ्राण अपने ही गुणों को ग्रहण करते हैं और किसी को नहीं, किन्तु स्पर्श की परिभाषा में 'मात्र' शब्द इसलिये दिया गया कि त्वगिन्द्रिय स्पर्श के अतिरिक्त संख्या, संयोग इत्यादि को भी ग्रहण करती है । तीनों परिभाषाओं में 'गुण' शब्द इसलिये दिया गया है ताकि उनकी जाति, रसत्व, गन्धत्व, और स्पर्शत्व में, अतिव्याप्ति न हो । इन तीनों ही परिभाषाओं में रसादि शब्द रसत्वादि जातिविशिष्ट का उपलक्षक है । अतः परमाणु रस, गन्ध और, स्पर्श, में अव्याप्ति नहीं होती ।

अन्नम्भट्ट स्पर्श को उष्ण, शीतल और अनुष्ण मानता है । किन्तु कुछ लेखक चित्रस्पर्श को स्वीकार करते हैं । किन्तु चित्रस्पर्श को स्वीकार करने वाले १२ प्रकार के स्पर्शों को मानते हैं—तीन प्रकार के नहीं ।

कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छलो मृदुदारुणः ।

उष्णः शीतः मुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च ।

एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते ॥'

यहां यह विचार प्रमुख नजर आता है कि चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय रूप और स्पर्श के अतिरिक्त रूपवत् और स्पर्शवत् द्रव्यादि के भी ग्राहक होने के कारण विशिष्ट है किन्तु रसना और घ्राण केवल गुणों का ही ग्रहण करती है, गुणी का नहीं । इसलिए चित्ररूप और चित्रस्पर्श को मानना आवश्यक है । किन्तु रस या गन्ध के सम्बन्ध में ऐसा स्वीकार करना आवश्यक नहीं क्योंकि यदि उनका प्रत्यक्ष न भी हो, तो भी वे अपने गुणों से अनुमेय हैं । स्पर्श की भी उन लोगों के अनुसार यही स्थिति होगी जो स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं मानते । अतः शंकरमिश्र ने कहा

है—न च हरीतक्यां रसोऽपि चित्र इति वाच्यम् । हरीतक्या नीरसत्वे दोषा-
भावात् ।^१

**रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च । अन्यत्रापाकजं नित्य-
मनित्यञ्च । नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम् ॥**

रूपादि (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) चारों पृथ्वी में पाकज (तेज के संयोग से होने वाले) हैं तथा अनित्य हैं । अन्यत्र (जल, तेज तथा वायु में) अपाकज तथा नित्य एवं अनित्य (दोनों प्रकार के) हैं—नित्य (परमाणु)—गत नित्य, अनित्य (द्रव्यणुकादि)—गत अनित्य ।

(त. दी.) **पाकजमिति ।** पाकस्तेजःसंयोगः । तेन पूर्वरूपं नश्यति, रूपान्तरमुत्पद्यत इत्यर्थः । अत्र परमाणुष्वेव पाकः, न द्रव्यणुकादौ । आमपाक-निक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्रव्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः । तत्र परमाणवः समवायिकारणम् । तेजःसंयोगोऽसमवायिकारणम् । अदृष्टादिकं निमित्तकारणम् । द्रव्यणुकादिरूपे कारणरूपसमवायिकारणम् इति पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः । पूर्वघटस्य नाशं विनैवावयविन्यवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु च युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः अत एव पार्थिवपरमाणुषु रूपादिकमनित्यमित्यर्थः ॥ अन्यत्रेति । जलादावित्यर्थः । **नित्यगतमिति ।** परमाणुगतमित्यर्थः ॥ **अनित्यगतमिति ।** द्रव्यणुकादिनिष्ठमित्यर्थः । रूपादिचतुष्टयमुद्भूतं प्रत्यक्षमनुद्भूतप्रत्यक्षम् । उद्भूतत्वं प्रत्यक्ष-प्रयोजको धर्मः । तदभावोऽनुद्भूतत्वम् ॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श दो प्रकार के हैं—पाकज और अपाकज, जो नित्य भी हैं और अनित्य भी । पाकज रूप, रसादि सभी अनित्य हैं । अपाकज नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं । नित्य परमाणुगत ये नित्य होते हैं तथा अनित्य कार्यगत ये अनित्य होते हैं । कभी ये उष्णता के द्वारा उत्पन्न होते हैं और कभी सहज या स्वाभाविक होते हैं । पृथ्वी में यह उष्णता से उत्पन्न होते हैं अतः अनित्य हैं जबकि शेष तीनों द्रव्यों में वे स्वाभाविक हैं, और नित्य और अनित्य दोनों हैं; उनका नित्य रूप परमाणुओं में है और अनित्य रूप कार्य

रूप में । इस सम्बन्ध में अन्तम्भट्ट कुछ नहीं कहता कि पृथ्वी के परमाणुओं में स्वाभाविक नित्य गन्ध है या नहीं है, । यदि गन्ध मानी जाय, तो 'पाकजम-नित्यं च' के बाद 'अपाकजं नित्यं' पाठ भी होना चाहिए । पाकज और अपाकज का मूल भेद यह लगता है कि पृथ्वी उष्णता पहुँचाये जाने पर अपने गुणों को बदल देती है किन्तु जल, प्रकाश और वायु नहीं बदलते । यद्यपि वायु और जल उष्णता के संयोग से गर्म हो जाते हैं किन्तु वस्तुतः वह उष्णता जल या वायु की नहीं होती, किन्तु उनके साथ मिल जाने वाले तेज की होती है ।

दीपिका में यहां दो मतों का उल्लेख है—वैशेषिक और नैयायिक । वैशेषिकों को पीलुपाकवादी और नैयायिकों को पिठरपाकवादी कहा जाता है । पीलुपाकवादी परमाणु में पाक मानते हैं और पिठरपाकवादी अवयवी में ही पाक के द्वारा रूपादि की परावृत्ति मानते हैं । पाक का यहां अर्थ है—पूर्वरूपसाक्षिपरावृत्तिजनको विजातीयतेजःसंयोगः ।^१ विभिन्न प्रभावों के अनुसार यह अनेक प्रकार का है । एक केवल रूप को बदलता है, जैसेकि आग में तपाया घट, दूसरा रूप, गन्ध और स्वाद तीनों को बदल देता है, जिस प्रकार पाल में पकाया आम । ऊपर पाक की परिभाषा में 'विजातीय' शब्द इसलिये रखा है कि धातुओं में उष्णता द्वारा होने वाले परिवर्तन में पाक की अतिव्याप्ति न हो जाये क्योंकि धातु भी तेजस् है, और उष्णता भी तेजस् है, अतः वे दोनों सजातीय हैं । जब घड़े को तपाया जाता है, तो वैशेषिकों के अनुसार पुराना काला घट और उसके द्र्यणुक इत्यादि भाग भी नष्ट हो जाते हैं । अग्नि उसके पृथक्-पृथक् परमाणुओं में लाल रंग उत्पन्न करती है और तब वे उसी प्रक्रिया से उसी प्रकार जुड़ कर एक नये लाल घट को उत्पन्न कर देता है । घट का नष्ट होना और फिर से जुड़ना इसलिये आवश्यक है ताकि सब परमाणु पक सकें क्योंकि यदि घट नष्ट नहीं होगा तो अग्नि अन्दर के परमाणुओं को नहीं पका सकेगी । इस ध्वस्त होने और पुनः जुड़ जाने की प्रक्रिया को हम इसलिये नहीं देख सकते क्योंकि यह बहुत शीघ्रता से होती है ।^२ कुछ लोग इसमें ९ पल, कुछ १० कुछ ११ और कुछ केवल ५ पल का समय आवश्यक मानते हैं । विश्वनाथ

१. तर्ककिरणावली, पृ० ५८-५९

२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २५७-२६२

ने ९ पलों का विवरण इस प्रकार दिया है।^१ तथाहि (१) वह्निसंयोगात्कर्म । ततः परमाण्वन्तरेण विभागः । तत आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्व्यणुकनाशः । (२) ततः परमाणौ श्यामादिनाशः । (३) ततो रक्ताद्युत्पत्तिः । (४) ततो द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया । (५) ततो विभागः । (६) ततः पूर्वसंयोगनाशः । (७) तत आरम्भकसंयोगः ॥ (८) ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः । (९) ततो रक्ताद्युत्पत्तिः इनमें से प्रथम चार प्रथम पल के अन्तर्गत हैं और शेष आठ, आठ पलों में । इस प्रकार यह समस्त प्रक्रिया नौ पलों में होती है । जो लोग विभागज-विभाग को मानते हैं, वे तीसरे प्रक्रिया के अनन्तर एक प्रक्रिया-वह्निनोदन-जन्यपरमाणुकर्मणो नाशः—और जोड़ देते हैं । इस प्रकार ११ पल के समर्थक प्रथम प्रक्रिया के अनन्तर एक विभाग और मानते हैं । पांच पल के समर्थक प्रथम पल में प्रथम, द्वितीय पल में द्वितीय, तृतीय पल में उसके बाद आने वाले दो, चतुर्थ पल में उसके बाद वाली चार, और पांचवें पल में अन्तिम प्रक्रिया को मानते हैं ।^२ नैयायिक जो पिठरपाकवाद के समर्थक हैं, वैशेषिकों के इस पीलुपाक सिद्धान्त को नहीं मानते । उनका कहना है कि यदि प्रथम घट नष्ट हो जाता है तो जो नया घट बनता है, हम उसे उसी घट के रूप में नहीं पहचान सकते । किन्तु वही घट सारी पाकक्रिया के अन्तर्गत उसी रूप में पहचाना जाता है । इसके अतिरिक्त यदि वह घट कभी भी किसी भी क्षण विघटित होता तो उसके ऊपर रखे रहने वाले पात्र गिर जाने चाहिए थे, किन्तु ऐसा नहीं होता । घट की संख्या, आकार और घट पर बनी हुई रेखाएं भी ज्यों की त्यों रहती हैं । इसके उत्तर में वैशेषिकों का कहना है कि यदि एक घट में से सुई द्वारा कुछ परमाणु निकाल भी लिये जाएं, तब भी वह घट वही है, यह पहचान हो जाती है ।^३ किन्तु नैयायिक यह मानते हैं कि घट के बिना विघटित और पुनर्निर्मित हुए ही उसका रूप बदल जाता है । यह आक्षेप कि घट के आन्तरिक भाग के परमाणु बिना अग्नि के स्पर्श के कैसे रूप बदल सकते हैं, यह कहकर निरुत्तर कर दिया जाता है कि पात्र में रखे जल को भी अग्नि बिना स्पर्श के ही उष्ण कर देती है । इस प्रकार पीलुपाक अर्थात् परमाणुओं

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २४६

२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ७.१.६ (पृ० १६४)

३. उपरिद्धत्, ७.१.६ (पृ० १६२)

के पाक को मानने वाले और पिठरपाक अर्थात् घट के विघटित हुए बिना ही उसका पाक मानने वाले वैशेषिकों और नैयायिकों में जो विवाद चलता है उसकी सूक्ष्मता को लेकर यह कारिका बन गयी है ।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागे ।

यस्य न स्खलित्वा बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥^१

कोई भी सिद्धान्त क्यों न मानें, यह मानना होगा कि पृथ्वी में पाकज गुण अनित्य हैं। पीलुपाक के अनुसार पृथ्वी के परमाणुओं में गन्ध भी अनित्य है किन्तु पिठरपाक के अनुसार इस विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता ।

एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या । नवद्रव्यवृत्तिरेकत्वादिपरार्धपर्यन्ता ।
एकत्वं नित्यमनित्यं च नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम् । द्वित्वादिकं
तु सर्वत्रानित्यमेव ॥

एकत्व आदि व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण संख्या है। यह नवों द्रव्यों में होती है तथा एक से लेकर परार्ध पर्यन्त है। एकत्व नित्य तथा दो प्रकार का है—नित्यगत नित्य, अनित्यगत अनित्य। द्वित्वादि तो सर्वत्र अनित्य ही है।

(त. दी.) संख्यां लक्षयति—एकत्वेति ॥

संख्या

यहां संख्या की^१ और परिमाण^२ की परिभाषा प्रशस्तपाद के अनुसार दी गई है। यहां भी हेतु का अर्थ असाधारण निमित्त कारण है। 'असाधारण' काल और दिक् में अतिव्याप्ति के वारण के लिए है और 'निमित्त' व्यवहार के उपादान कारण आकाश में अतिव्याप्ति के वारण के लिए है। दस सामान्य गुणों में संख्या प्रथम है। वे सामान्य गुण ये हैं—

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २२०

२. एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या—प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २६७

३. परिमाणं मानव्यवहारकारणम्—उपरिवत्, पृ० ३१४

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवः सांसिद्धिकस्तथा ।

गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ॥^१

ये सभी गुण द्रव्यों में सामान्य रूप से रहते हैं । किसी विशेष प्रकार के द्रव्य में नहीं । अतः यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करने वाले गुण नहीं बन सकते । ये गुण, आज की शब्दावली में कहें तो, वस्तुनिष्ठ नहीं हैं, प्रत्युत व्यक्तिनिष्ठ हैं । ये वस्तु के किसी एक पक्ष को या उसकी व्यवस्था को या उसके भावों को बतलाते हैं । वेदान्त की शब्दावली में ये अध्यस्त या आरोपित हैं । हम इन्हें अनुभव अवश्य करते हैं किन्तु वस्तु में इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती । हम इनकी कल्पना करते हैं, इन्हें वस्तुतः देखते नहीं हैं । विशेष गुण वस्तुनिष्ठ होते हैं । संख्या सामान्य गुण है और अपेक्षा-बुद्धिजन्य है ।

संख्या एक से लेकर परार्ध (एक लाख × एक लाख × एक करोड़) तक होती है । एकत्व अणुओं में रहता है और शेष संख्या कार्य पदार्थ में । एक लकड़ी का टुकड़ा जब तक तोड़ नहीं दिया जाता, एक ही रहता है, किन्तु तोड़ने पर अनेक बन जाता है । इसलिए उसका एकत्व अनित्य है । द्वित्व से लेकर समस्त संख्या अनित्य ही हैं । शंकर मिश्र ने द्वित्व इत्यादि के अतिरिक्त बहुत्व को भी माना है ।^२ किन्तु अन्य आचार्यों को यह स्वीकार नहीं है ।^३

हमने पाकज-अपाकज पर विचार करते समय यह कहा था कि द्वित्व के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में मतभेद है । वैशेषिकों और अन्नंभट्ट के अनुसार द्वित्व केवल अपेक्षा बुद्धि द्वारा ज्ञाप्य ही नहीं है, जन्य भी है । अपेक्षा बुद्धि की यह परिभाषा है—अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते ।^४ दो पदार्थों

१. भाषापरिच्छेद, ११-१२

२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिकसूत्र, ७.२.८ (पृ० १७९-१८१)

३. इदन्तु बोध्यं—यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसंख्या उत्पद्यते यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः । आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेव बहुत्वं मन्यते, तथा च त्रित्वादिध्यापिका बहुत्वजातिर्नातिरिच्यते । न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २५२

४. भाषापरिच्छेद, १०९

के सामने आने पर हम उन्हें पृथक्-पृथक् ही जानते हैं और यह पृथक्-पृथक् दो इकाइयों का ज्ञान हमें एक इकाई का ज्ञान करवाता है, तब हमें द्वित्व का ज्ञान होता है। भाषापरिच्छेद में यह प्रक्रिया इस प्रकार दी गई है—

“तत्र प्रथममिन्द्रियार्थसन्निकर्षः । तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम् । ततोऽपेक्षा-
बुद्धिः । ततो द्वित्वोत्पत्तिः । ततो द्वित्वसामान्यज्ञानम् । तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम् ।
ततः संस्कारः ।”

प्रथम हमारी इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है। तदनन्तर एक का ज्ञान होता है फिर अपेक्षा बुद्धि तदनन्तर द्वित्व की उत्पत्ति, तदनन्तर द्वित्व का सामान्य ज्ञान, तदनन्तर द्वित्व गूण का ज्ञान, तदनन्तर द्वित्व का संस्कार। अपेक्षा बुद्धि द्वित्व का ज्ञापक हेतु नहीं है। आकाश में सुप्त शब्द को अभिव्यक्त कर देने वाला दण्डप्रहार ज्ञापक हेतु है। किन्तु अपेक्षा बुद्धि द्वित्व के साथ सदा रहती है अतः यह कारक हेतु है क्योंकि ज्ञापक हेतु के साथ ऐसा नहीं होता। तुलना कीजिए—अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वादेरुत्पादिका भवितुमर्हति। व्यञ्जकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात्। शब्दं प्रति संयोगवदिति। मध्वाचार्य का कहना है कि अपेक्षाबुद्धि क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में पृथक्-पृथक् रहती है, जबकि द्वित्व पृथक्त्व की भांति कुछ पदार्थों में एकसाथ रहता है; अतः यह अपेक्षाबुद्धि द्वित्व का जनक हेतु ही हो सकती है। जो अपेक्षाबुद्धि को जनक मानते हैं, उनके अनुसार द्वित्व की एक स्वतन्त्र सत्ता है और यह, उन इकाइयों से जिनको मिलाकर यह बनता है, पृथक् है। किन्तु जो अपेक्षाबुद्धि को ज्ञापक मानते हैं, उनके अनुसार यह उन इकाइयों में ही रहता है, अपेक्षा-बुद्धि केवल इसे अभिव्यक्त कर देती है। द्वित्व और उसका जनकहेतु, अपेक्षा-बुद्धि, पदार्थों को दो के रूप में जान लेने के बाद समाप्त हो जाते हैं। द्वित्व-गुण-बुद्धि, अपेक्षाबुद्धि द्वारा फलित होती है और उसके द्वित्व-गुण-बुद्धि के फलित हो जाने पर अपेक्षाबुद्धि भी समाप्त हो जाती है और दो द्रव्यों के जान लिये जाने पर अपेक्षाबुद्धि भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अपेक्षा-बुद्धि और द्वित्वगुणबुद्धि तीन-तीन क्षण के लिये रहती हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—एकत्वज्ञान, अपेक्षाबुद्धि, द्वित्वोत्पत्ति तथा एकत्वज्ञाननाश। द्वित्वज्ञान, द्वित्वगुणबुद्धि तथा अपेक्षाबुद्धिनाश तथा द्वित्वनाश तथा द्रव्यबुद्धि। वैशेषिकों

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २२१

२. उपरिवत्, पृ० २२१-२२२

३. उपरिवत्, पृ० २२२

का मत है कि समस्त ज्ञान सर्वव्यापक आत्मा के गुण होने के नाते अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करने के अनन्तर नष्ट हो जाते हैं। अन्नम्भट्ट ने जो द्वित्व आदि को सर्वत्र अनित्य बतलाया है, उसका यही भाव है।

मानव्यवहारकारणं परिमाणं नवद्रव्यवृत्ति । तच्चतुर्विधम्-अणु, महदीर्घं ह्रस्वञ्चेति ॥

मान (=नाप तोल) के व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण परिमाण है। यह नवों द्रव्यों में रहता है। यह चार प्रकार का है—अणु, महत्; दीर्घ और ह्रस्व।

(त. दी.) परिमाणं लक्षयति—मानेति । परिमाणं विभजते—तदिति । भावप्रधानो निर्देशः । अणुत्वं महत्त्वं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः ॥

परिमाण

यहाँ जो चार प्रकार के परिमाण दिए हैं, वे भी प्रत्येक दो प्रकार के हैं—मध्यम और परम। परमाणु जो सबसे अधिक सूक्ष्म है, उसकी सूक्ष्मता पारिमाण्डल्य कहलाती है, वह परम सूक्ष्मता का उदाहरण है। द्र्यणु मध्यमाणुत्व का उदाहरण है। आकाश परम महत्त्व या विभुत्व का उदाहरण है और समस्त दृश्य पदार्थ मध्यम महत्त्व का उदाहरण है। अणु और महत्त्व घनफल अर्थात् ३ आयाम के छोटेपन और बड़ेपन को बतलाते हैं। जबकि दीर्घ और ह्रस्व केवल एक आयाम में, जैसे कि रेखा में, दीर्घ या ह्रस्व को बतलाते हैं। कुछ लोग ह्रस्वत्व और दीर्घत्व को अणुत्व और महत्त्व के अन्तर्गत ही मान लेते हैं। वस्तुतः यह सब सापेक्ष शब्द हैं और कितने अवयवी अंशों को लेकर एक पदार्थ बना है इसे ही बतलाते हैं। परिमाण भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। पारिमाण्डल्य और विभुत्व नित्य हैं शेष सब अनित्य। अनित्य परिमाण तीन प्रकार का है—संख्याजन्य, जैसे द्र्यणुकादि के परिमाण, परिमाण-जन्य जैसे घटादि और प्रचयजन्य जैसे रुई आदि। इसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।

पृथग्व्यवहारकारणं पृथक्त्वम् । सर्वद्रव्यवृत्ति ॥

पृथग्भाव के व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण पृथक्त्व है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

(त. दी.) पृथक्त्वं लक्षयति—पृथगिति । 'इदमस्मात् पृथक्' इति व्यवहारकारणमित्यर्थः ॥

पृथक्त्व

यहाँ जो पृथक्त्व की परिभाषा दी है, उसकी अपेक्षा यह परिभाषा अधिक उपयुक्त है—अपोद्धारव्यवहारकारणम् ।^१ अपोद्धार का अर्थ है—अपकृत्यावधिमपेक्ष्य य उद्धारो निर्धारणं सः । अर्थात् एक पदार्थ को शेष सब पदार्थों से पृथक् रूप में जानकर पहचानना । पृथक्त्व अन्योन्याभाव से पृथक् है । अन्योन्याभाव केवल यह बतलाता है कि घट पट नहीं है । किन्तु पृथक्त्व 'पटाद्धटः पृथक्' इस रूप में घट की एक पट से पृथक् विशेष सत्ता बतलाता है ।^२ उदाहरणतः हम यह कह सकते हैं कि घट अपने में रहने वाला पृथक्त्व गुण नहीं है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वह उससे पृथक् है । इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि बिना पका कच्चा घड़ा पक्का घड़ा नहीं है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह उससे पृथक् है । इसी प्रकार दण्डी देवदत्त अदण्डी देवदत्त नहीं है, किन्तु यह उससे पृथक् नहीं है । इस प्रकार पृथक्त्व दो पदार्थों की वस्तुनिष्ठ पृथक्ता को बतलाता है जबकि अन्योन्याभाव उनके एक ही स्वभाव न होने को बतलाता है । इसी प्रकार पृथक्त्व वैधर्म्य या वैशिष्ट्य से भिन्न है ।^३

संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः । सर्वद्रव्यवृत्तिः ॥

'ये जुड़े हैं'—इस व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण संयोग है । वह सभी द्रव्यों में रहता है ।

(त. दी.) संयोगं लक्षयति—संयुक्तेति । 'इमौ संयुक्तौ' इति व्यवहार-हेतुरित्यर्थः । संख्यादिलक्षणेषु सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणायसाधारणोऽत पदं देयम् ॥ संयोगो द्विविधः—कर्मजः संयोगजश्च । आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकसंयोगः । द्वितीयो हस्त-पुस्तकसंयोगात् काय-पुस्तकसंयोगः । अव्याप्य-वृत्तिः संयोगः । स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमव्याप्यवृत्तित्वम् ॥

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ३३२

२. कणादरहस्य, पृ० ७५-७६

३. उपरिवत्, पृ० ८०

संयोग

संयोग की परिभाषा यह है—अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः संव संयोग ईरितः^१ अर्थात् वे दो पदार्थ जो कभी अलग-अलग थे, उनका साथ-साथ मिल जाना संयोगज है। इस प्रकार दो सर्वव्यापक पदार्थों का कभी संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि वे कभी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते। संयोग हमेशा कृत्रिम और अनित्य होता है, बीपिका में संयोग को दो प्रकार का माना है—कर्मज और संयोगज। हाथ का पुस्तक से संयोग कर्मज है क्योंकि यह हाथ के गति-कर्म से होता है और हाथ का पुस्तक से संयोग होने पर इस संयोग से जो शरीर का पुस्तक से संयोग होता है, वह संयोगज संयोग है। कर्मज संयोग भी दो प्रकार का है—अन्यतर कर्मज और उभयकर्मज। पक्षी का पर्वत से संयोग अन्यतर कर्मज है क्योंकि इसमें केवल पक्षी ही गति करता है, पर्वत नहीं। किन्तु दो पक्षियों का या दो बादलों का संयोग उभयकर्मज है क्योंकि उसमें दोनों संयुक्त होने वाली इकाइयां गति करती हैं। संयोगज भी संयोग दो प्रकार का है—एक तो ऐसा संयोगज संयोग जो अभी उत्पन्न हुए पदार्थ से होता है जैसे—कार्य का अपने उपादान में रहने वाले पदार्थ से सम्बन्ध और दूसरा पहले से ही रहने वाले पदार्थ का संयोग जैसे कि हाथ का पेड़ को छूने पर पेड़ का संयोग। सभी संयोग अव्याप्यवृत्ति होते हैं अर्थात् पदार्थ के केवल एक अंशमात्र को व्याप्त करते हैं और विभाग या आश्रय के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं।

तर्कसंग्रह में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व और संयोग की परिभाषा देते समय कुछ हस्तलिखित प्रतियों में व्यवहार के बाद 'असाधारण' शब्द दिया है और कुछ ने नहीं दिया। यह आवश्यक नहीं है कि 'असाधारण' शब्द दिया जाय, क्योंकि काल और दिक् की परिभाषा की भांति सभी जगह असाधारण शब्द स्वयं मान लिया जाता है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में इस सम्बन्ध में कहा गया है—“उपदर्शितलक्षणे साधारणपदं देयम् । क्वचित् पुस्तके परिमाणपृथक्त्वलक्षणे साधारणपदं दृश्यते तच्चाधुनिकैर्न्यस्तमिति बोध्यम् ।”

वाक्यवृत्ति में साधारण कारण की यह परिभाषा दी है—कार्यत्वावच्छिन्न-कार्यतानिरूपितकारणम् । अर्थात् साधारण कारण सभी कार्यों का कारण है किसी विशेष कार्य का नहीं। उदाहरणतः दण्ड घट का ही कारण है, किसी और कार्य का नहीं, जबकि काल और दिशा घट का भी उसी प्रकार निमित्त

कारण हैं, जिस प्रकार किसी, अन्य कार्य के। ऐसे साधारण कारण ८ हैं—ईश्वर उसका ज्ञान, उसकी इच्छा, उसका प्रयत्न, प्रागभाव, काल, दिक् तथा अदृष्ट जिसमें पाप और पुण्य दोनों आ जाते हैं। कुछ लोग प्रतिबन्धकाभाव को नवां साधारण कारण मानते हैं। ये साधारण कारण तो सभी कार्यों में रहते हैं, अतः जहां कहीं हम कारण की चर्चा करें, वहां ये कारण नहीं लेने चाहिए।

संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः ॥

संयोग का नाशक गुण विभाग है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

(त. दी.) विभागं लक्षयति—संयोगेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय संयोगनाशक इति। विभागोऽपि द्विविधः—कर्मजो विभागजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्त-पुस्तकविभागः; द्वितीयो हस्त-पुस्तकविभागात्काय-पुस्तकविभागः ॥

विभाग

विभाग केवल संयोग का अभाव ही नहीं है, अन्यथा इसे पृथक् नहीं गिनवाया जाता, प्रत्युत यह एक वास्तविक सत्ता है, जो संयोग को समाप्त कर देती है। इसके अतिरिक्त विभाग विभाजन की क्रिया नहीं है, क्योंकि यह गुण है, जोकि उस क्रिया से तुरन्त फलित होता है। अतः अन्नम्भट्ट विभाग की दूसरी परिभाषा देते हैं—संयोगनाशको गुणो विभागः, विश्वनाथ की भांति, 'विभक्तव्यवहारकारणम्' परिभाषा नहीं देते। क्योंकि विश्वनाथ की परिभाषा से विभाजन की क्रिया भी विभाग ही मान ली जाएगी। अतः प्रथम विभाजनक्रिया तदनन्तर विभाग तदनन्तर पूर्वदेशसंयोगनाश और अन्त में अपरदेश-संयोग होता है। एक घट को एक स्थान से हटाने समय प्रथम हटाने का कर्म होता है। भूमि से उसका पृथक् हो जाना, यह विभाग है। भूमि से संयोग समाप्त हो जाता है। यह पूर्वदेशसंयोगनाश है और उसे हम दूसरे स्थान पर रख देते हैं। यह अपरदेशसंयोग है। अतः विभाग संयोगनाश का कारण है, स्वयं संयोगनाश नहीं। नदी के किनारे पर लगे हुए दोनों ओर के वृक्ष सदा से ही पृथक् हैं। किन्तु उनका कभी वास्तव में विभाजन नहीं हुआ। विभाग के भी वही भेद हैं, जो संयोग के किन्तु नैयायिक विभागज विभाग को नहीं मानते जबकि वैशेषिक मानते हैं। विभागज विभाग का उदाहरण है हाथ के वृक्ष से विभक्त हो जाने पर शरीर का वृक्ष से विभाग।

यहाँ शरीर का विभाग हस्तक्रिया से सम्पन्न नहीं होता। क्योंकि शरीर का विभाग शरीरस्थ है और हस्तक्रिया हस्तस्थ। और शरीर में कोई ऐसी क्रिया नहीं होती, जो उसे विभक्त कर दे। एक भाग की क्रिया समस्त अवयवी की क्रिया नहीं हो सकती। अतः यहां विभाग विभाग से ही उत्पन्न होता है। विभागज विभाग भी दो प्रकार का माना जाता है—कारणमात्रविभागज और कारणाकारणविभागज।

परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टय-मनोवृत्तिनी। ते द्विविधे—दिवकृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम् ॥

दूरी तथा निकटता के व्यवहार के असाधारण (निमित्त) कारण परत्व तथा अपरत्व हैं। ये पृथ्वी आदि चार तथा मन में रहते हैं। ये दो प्रकार के हैं—दिशाकृत तथा कालकृत। दूरस्थ में दिशाकृत परत्व, समीपस्थ में दिशाकृत अपरत्व, ज्येष्ठ में कालकृत परत्व तथा कनिष्ठ में कालकृत अपरत्व होता है।

(त. दी.) परत्वापरत्वयोर्लक्षणमाह—परेति। परव्यवहारासाधारणकारणं परत्वम्। अपरव्यवहारासाधारणकारणमपरत्वमित्यर्थः। परापरत्वे विभजते—ते द्विविध इति। दिक्कृतयोर्बुदाहरणमाह—दूरस्थ इति ॥ कालकृते उदाहरति—ज्येष्ठ इति ॥

परत्वापरत्व

परत्वापरत्व को दूरी और निकटता भी कह सकते हैं। ये प्रथम चार मूर्त अनित्य और मध्यम परिमाण वाले पदार्थों में रहते हैं। मन क्योंकि मूर्त है, इसलिए उसमें दिक्कृत, परत्व, अपरत्व रहता है किन्तु क्योंकि यह नित्य है, अतः उसमें कालकृत, परत्व, अपरत्व नहीं होता। अन्तिम चार पदार्थ नित्य भी हैं और अमूर्त भी हैं। अतः उनमें किसी प्रकार का परत्व, अपरत्व नहीं होता। वस्तुतः परत्व, अपरत्व दो मूर्त पदार्थों के दिक्कृत और कालकृत सम्बन्ध हैं जो उनके गुणों के रूप में कह दिये जाते हैं।

आद्यपतनासमवाधिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति ॥

आद्य पतन (प्रथम गिरने) का असमवायिकारण गुरुत्व है । यह पृथ्वी और जल में रहता है ।

(त. दी.) गुरुत्वं लक्षयति—आद्येति । द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारणत्वाद्देगेऽतिव्याप्तिवारणाय—आद्येति ॥

आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम् । पृथिव्यप्तेजोवृत्ति । तद्द्विविधम्—सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च । सांसिद्धिकं जले, नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः । पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम् । तेजसि सुवर्णादौ ॥

आद्य स्यन्दन (प्रथम बहने) का असमवायिकारण द्रवत्व है । यह पृथ्वी, जल और तेज में रहता है । यह दो प्रकार का है । सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और नैमित्तिक (अग्नि आदि के तेज के संयोग से होने वाला) सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक पृथ्वी तथा तेजस् में होता है । पार्थिव घृतादि में अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व और तेजस सुवर्ण आदि में भी अग्नि के संयोग से द्रवत्व होता है ।

(त. दी.) द्रवत्वं लक्षयति—आद्यस्यन्दनेति । स्यन्दनं-स्रवणम् । तेजः-संयोगजन्यं नैमित्तिकद्रवत्वम् । तद्भिन्नं सांसिद्धिकद्रवत्वम् । पृथिव्यां नैमित्तिक-द्रवत्वमुदाहरति—घृतादाविति । तेजसि तदाह—सुवर्णादाविति ॥

गुरुत्व, द्रवत्व

गुरुत्व और द्रवत्व की परिभाषाएं एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । एक पतन का असमवायिकारण है दूसरा प्रथम स्यन्दन का असमवायिकारण है । यहाँ दोनों परिभाषाओं में पतन और स्यन्दन के समस्त द्वितीय और परवर्ती क्रियाओं में असमवायिकारण के रूप में रहने वाले वेग में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'आद्य' शब्द दिया है । वस्तुतः पतन और स्यन्दन दोनों एक ही हैं । पतन ठोस पदार्थों का है, स्यन्दन द्रव्य पदार्थों का । नैयायिकों ने सम्भवतः यह एकता नहीं समझी । उन्होंने गुरुत्व को प्रथम पतन का कारण माना जबकि वस्तुतः यह प्रत्येक पतन क्रिया का कारण है । गुरुत्व के दो अर्थ—भार और भारीपन इसके सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं ।

कुछ द्रव्यों में द्रवत्व स्वाभाविक है जैसे पानी में और कुछ में कृत्रिम जैसे घृत में। यह सांसिद्धिक और नैमित्तिक द्रवत्व यद्यपि पदार्थ के गुण माने जाते हैं किन्तु इनका इतना अभिप्राय है कि कुछ द्रव्य सामान्य तापमान पर द्रवित रहते हैं और कुछ नहीं। बरफ या ओले के रूप में पानी का ठोस हो जाना अपवादात्मक माना जाता है।

द्रवत्व की कल्पना तेजस्, जैसे पिघले हुए सोने या दूसरी धातुओं, में भी की जाती है और यह माना जाता है कि उन धातुओं का ठोसपन उनमें मिले हुए पार्थिव पदार्थों के कारण है। यह भी कहा जा सकता है कि धातुओं का द्रवत्व उनमें मिले हुए जलीय भाग के कारण है। किन्तु वैशेषिकों का कहना है कि यदि ऐसा होता तो यह सांसिद्धिक होता। किन्तु वस्तुतः यह नैमित्तिक है। प्रश्न होता है कि धातुओं में गुरुत्व का कारण जो पार्थिव तत्त्व हैं, वही उसके नैमित्तिक द्रवत्व का कारण भी क्यों नहीं होते? इसका यह उत्तर है कि धातुओं का द्रवत्व अनुच्छिद्यमान है। क्योंकि वह अत्यधिक ताप पहुंचाने पर भी नष्ट नहीं होता जबकि पार्थिव पदार्थों का द्रवत्व उच्छिद्यमान है। धातुओं के रूप में तेजस् का द्रवत्व उसकी एक अपनी विशेषता है। •

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः । जलमात्रवृत्तिः ॥

चूर्णादि को मिला देने वाला गुण स्नेह है। यह केवल जल में रहता है।

(त. दी.) स्नेहं लक्षयति—चूर्णंति । कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति । रूपादावतिव्याप्तिवारणाय चूर्णादीति ।

स्नेह

तेल, दूध और दूसरे पार्थिव पदार्थों में जो स्निग्धता है, वह जलीय तत्त्व के कारण है। किन्तु इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि वह जलीय तत्त्व अभिन को बुझाने के स्थान पर भड़काता क्यों है? इसका उत्तर वैशेषिक यह देते हैं कि शुद्ध जल की अपेक्षा इसमें अधिक स्निग्धता होती है—तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता^१ किन्तु यह नहीं बतलाया जाता कि यह स्निग्धता की सघनता यदि जल के कारण ही है तो फिर तेल में अधिक क्यों है? पिण्डीभाव का अर्थ है सघनत्व। इस पिण्डीभाव के लिए स्नेह का मानना

आवश्यक है—केवल द्रवत्व इसके लिए पर्याप्त नहीं है । क्योंकि पिघला हुआ सोना जिसमें द्रवत्व होता है, चूर्ण का पिण्डीभाव नहीं कर सकता । न्याय-बोधिनी का कहना है कि केवल तरल जल ही पिण्डीभाव कर सकता है बरफ इत्यादि के रूप में ठोस जल नहीं ।

ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञान के पारिमाणिक आकर्षण का सिद्धान्त जो ठोस द्रव्य और वायवी पदार्थों का कारण है, प्राचीन भारतीयों को ज्ञात नहीं था ।

सभी टीकाकारों ने प्रायः यह कहा है कि इस परिभाषा में 'गुण' शब्द काल इत्यादि में अतिव्याप्तिनिवारण के लिए है । किन्तु यह ठीक नहीं लगता क्योंकि हेतु शब्द का अर्थ हम पहले ही असाधारण हेतु लेते आये हैं । वाक्यवृत्ति में कहा है कि यहाँ चूर्ण में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'गुण' शब्द दिया है । किन्तु यदि 'हेतु' शब्द का हम निमित्त कारण अर्थ लेते हैं तो चूर्ण में अतिव्याप्ति का निवारण तो स्वयं ही हो जाता है । ऐसा लगता है कि पिण्डीकरण की क्रिया में, जोकि पिण्डीभाव का असाधारण निमित्त कारण है, अतिव्याप्ति निवारण के लिये यहाँ 'गुण' शब्द दिया है । अतः यहाँ दीपिका में जो व्याख्या की गई है, वह सुसंगत नहीं है । प्रशस्तपाद भाष्य में भी स्नेह की यही परिभाषा आती है और संभवतः अन्नम्भट्ट ने यह परिभाषा वहीं से ली है ।^१

**श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः । आकाशमात्रवृत्तिः । स द्विविधः—
ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति । ध्वन्यात्मको भेर्यादौ । वर्णात्मकः
संस्कृतभाषादिरूपः ॥**

श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य गुण शब्द है । यह केवल आकाश में रहता है । यह दो प्रकार का है—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक, इनमें ध्वन्यात्मक भेरी आदि में होता है और वर्णात्मक संस्कृत भाषादिरूप है ।

(त. दी) शब्दं लक्षयति—श्रोत्रेति । शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण इति । रूपादावतिव्याप्तिवारणाय श्रोत्रेति ॥ शब्दस्त्रिविधः—संयोगजो विभागजः शब्दजश्चेति । तत्राद्यो भेरीदण्डसंयोगजन्यः । द्वितीयो वंश उत्पाट्यमाने

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० २६७ (स्नेहोऽप्यां विशेषगुणः । संग्रहमृजादिहेतुः ।)

दलद्वयविभागजन्यश्चटचटाशब्दः । भेदादिवेशमारभ्य श्रोत्रपर्यन्तं द्वितीयादि-
शब्दाः शब्दजाः ॥

शब्द

ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेदों के अतिरिक्त दीपिका में शब्द के संयोगज विभागज और शब्दज—यह तीन भेद और किये हैं। ढोल के पीटे जाने से जो शब्द होता है, वह ढोल और हाथ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोगज है। बांस की छड़ी इत्यादि को बीच में से तोड़ने पर जो शब्द होता है, वह विभागज है और जो शब्द प्रथम उत्पन्न हुए शब्द से उत्पन्न होता है, वह शब्दज है।

क्योंकि हम किसी भी शब्द को दूर से सुन लेते हैं अतः शब्दज शब्द मानना पड़ता है। चक्षु और श्रोत्र अपने-अपने पदार्थों को दूरी से भी जान लेते हैं। इनमें चक्षु तो यह माना जाता है कि पदार्थ तक जाता है। किन्तु श्रोत्र सर्वव्यापक आकाश से सम्बद्ध है और वह पदार्थ तक नहीं जा सकता क्योंकि श्रोत्र और कुछ नहीं है, हमारे कान की सीमा में बंधा हुआ आकाश ही है—कर्णशङ्कुल्यवच्छिन्न आकाश है। अतः उसके अपने स्थान को छोड़कर जाने का प्रश्न नहीं होता। अब यदि श्रोत्र इन्द्रिय बाहर जाकर पदार्थ से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती, तो पदार्थ को सन्निकर्ष के लिए इन्द्रिय के पास आना चाहिए। किन्तु वह शब्द आकाश का गुण होने के कारण आकाश में एक स्थल विशेष पर उत्पन्न होता है और नैयायिकों के अनुसार वह अनित्य भी है। अतः यह माना जाता है कि प्रथम उत्पन्न शब्द, द्वितीय उत्पन्न शब्द को जन्म देता है, और द्वितीय तृतीय को। और इस प्रकार वे कान तक पहुंच जाते हैं। नैयायिक इतने अंश तक वैशेषिकों के साथ सहमत हैं।

किन्तु नैयायिकों में इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है कि शब्द किस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय तक यात्रा करता है। कुछ लोगों का कहना है कि शब्द केवल एक ही दिशा में एक सीधी रेखा में यात्रा करता है। यह वीचित्रगन्याय कहलाता है। दूसरे लोग कदंबगोलकन्याय को मानते हैं जिसके अनुसार जिस प्रकार कदंब के फूल की पंखुड़ियां चारों ओर होती हैं, उसी प्रकार शब्द भी चारों दिशाओं में यात्रा करता है।^१ इतना तो स्पष्ट है कि ढोल का शब्द चारों

दिशाओं में सुनाई पड़ता है, अतः दूसरा सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । किन्तु साथ ही यह भी कहना होगा कि व्यक्ति जिस ओर मुँह कर के बोलता है, आवाज उस ही ओर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है, अतः प्रथम सिद्धान्त भी सर्वथा निराधार नहीं है ।

वस्तुस्थिति यह है कि नैयायिक यह नहीं जानते थे कि श्रोत्रेन्द्रिय कान का पर्दा है, श्रोत्राकाश नहीं। वे यह भी नहीं जानते थे कि शब्द वायु के माध्यम से वायवी अवयवों में पैदा होने वाली लहरों के माध्यम से पहुँचता है। उन्होंने शब्द के स्वभाव को ठीक-ठीक जानने में अपनी शक्ति लगाने के बजाय इस विषय में अपनी शक्ति अधिक लगाई कि शब्द नित्य है, या अनित्य ।

**सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विविधा—स्मृतिरनुभवश्च ।
संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । तद्विन्नं ज्ञानमनुभवः ।**

सब व्यवहार का हेतु गुण बुद्धि है (और वही) ज्ञान है । यह दो प्रकार की है—स्मरण और अनुभव । जो संस्कार मात्र से उत्पन्न हो वह स्मरण है उसके अतिरिक्त ज्ञान अनुभव है ।

(त. दी) बुद्धेर्लक्षणमाह—सर्वेति । 'जानामि' इत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वमेव लक्षणमित्यर्थः । बुद्धिं विभजते—सेति ॥ स्मृतेर्लक्षणमाह—संस्कारेति । भावनास्थः संस्कारः । संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय—ज्ञानमिति । घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय—संस्कारजन्यमिति । प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रेति ॥ अनुभवं लक्षयति—तद्विन्नमिति । स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभव इत्यर्थः ॥

बुद्धि

बुद्धि शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—ज्ञान, ज्ञान का साधन और जानने की क्रिया । न्यायवैशेषिक दर्शन में बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है । बुद्धि को यहाँ आत्मा का गुण कहा है । ज्ञान गुण है जबकि ज्ञान की क्रिया, क्रिया है और ज्ञान का साधन द्रव्य है । यह ज्ञान का साधन नैयायिकों ने मनसः शब्द से कहा है । सांख्य और वेदान्ती बुद्धि को महत्तत्त्व के अन्तर्गत एक पदार्थ मानते हैं और इसकी क्रियाओं को अनेक भागों में बांट देते हैं जैसेकि अहंकार, अन्तःकरण इत्यादि । अतः वे बुद्धि को ज्ञान का साधन मानते हैं । किन्तु नैयायिक बुद्धि को ज्ञान मानते हैं । और ज्ञान का साधन मन को मानते हैं, जोकि अणु परिमाण है और प्रत्यक्षगम्य

नहीं। अतः यहाँ बुद्धि को ज्ञान ही माना है, ज्ञान का साधन नहीं। सिद्धान्त-चन्द्रोदय में व्यवहार को आहार-विहार आदि कहा है। किन्तु वाक्यवृत्ति में व्यवहार को बुबोधयिषापूर्वकवाक्यप्रयोगः अर्थात् अपने विचारों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए किया गया वाक्यप्रयोग कहा गया है। सिद्धान्तचन्द्रोदय की परिभाषा में हमें उन क्रियाओं को जोकि ज्ञान से प्रेरित नहीं होतीं, व्यवहार मानना पड़ेगा, जैसे कि सोते-सोते चलना। संक्षेप में बुद्धि आत्मा का वह गुण है, जो हमें स्पष्ट वाणी में प्रेरित करता है। किन्तु बुद्धि की इस परिभाषा में निर्विकल्प ज्ञान नहीं आता, क्योंकि हम उसे वाणी से प्रकट नहीं कर सकते, इसलिए वाक्यवृत्ति में व्यवहार का जो कारण जाति है, उससे अवच्छिन्न गुण को बुद्धि मान लिया है—तादृशव्यवहारजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वम्। अतः निर्विकल्प ज्ञान यद्यपि व्यवहार हेतु नहीं है, किन्तु इसमें बुद्धित्व जाति है।

बुद्धि की जो परिभाषा यहां दी है, वह व्यवहार के लिए उपयोगी होने पर भी शास्त्रीय दृष्टि से उतनी ठीक नहीं है, अतः दीपिका में एक दूसरी परिष्कृत परिभाषा दी है—जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्। अर्थात् बुद्धि वह ज्ञान है, जो अनुव्यवसाय (मैं जानता हूं इस प्रकार के ज्ञान का) विषय बनता है। नैयायिकों के अनुसार ज्ञान के तीन प्रकार हैं—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, ज्ञान तथा अनुव्यवसाय। घट के देखने पर चक्षु इन्द्रिय से उसका सन्निकर्ष इन्द्रिय सन्निकर्ष है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह सन्निकर्ष है, अयं घटः इस बुद्धि में परिणत हो जाता है और यह बुद्धि घटज्ञानवान् आत्मा का ज्ञान करवाती है, जोकि अहं के साथ मिलकर घटज्ञानवानहमस्मि या घटमहं जानामि के रूप में परिणत हो जाती है। यह अन्तिम स्थिति अनुव्यवसाय है। अतः 'अयं घट' घटमहं जानामि का विषय माना गया है। सांख्य और वेदान्ती अयं घटः को अनुव्यवसाय का गम्य ज्ञान नहीं मानते किन्तु अनुव्यवसाय को ही स्वयं एक ज्ञान मानते हैं।

सप्तपदार्थों में बुद्धि की यह परिभाषा दी है—आत्माश्रयः प्रकाशः, जिनवर्द्धन ने इसकी यह व्याख्या की है—अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारकसकल्पदार्थ-स्यार्थप्रकाशः प्रदीप इव देदीप्यमानो यः प्रकाशः सा बुद्धिः। अर्थात् ज्ञान एक ऐसा प्रकाश है जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करके मन के समक्ष समस्त पदार्थों को अभिव्यक्त कर देता है। ऊपर बुद्धि को आत्माश्रय बताया गया है और अन्नम्भट्ट भी आत्मा को ज्ञानाधिकरण मानते हैं और बुद्धि और ज्ञान, दोनों को एक ही मानते हैं।

ज्ञान दो प्रकार का है—स्मृति और अनुभव । स्मृति संस्कार-मात्र-जन्य ज्ञान है, संस्कार भावना है जो अनुभव से पैदा होती है और स्मृति का कारण है । अर्थात् अनुभव और स्मृति के बीच में रहने वाला व्यापार भावनासंस्कार है । व्यापार का लक्षण है—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः । अर्थात् हेतु से उत्पन्न होकर अपने कार्य को उत्पन्न कर देने वाला । भावनासंस्कार अपने हेतु अनुभव से उत्पन्न होकर अपने कार्य, स्मृति, को उत्पन्न करता है, अतः वह एक 'व्यापार' है ।

स्मृति की परिभाषा में मात्र शब्द का प्रयोग बहुत विवादास्पद है । कहा जाता है कि संस्कार से उत्पन्न होने वाली प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति रोकने के लिये 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है । किन्तु प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से ही उत्पन्न नहीं होती, उसके लिये पदार्थ का प्रत्यक्ष भी होना चाहिए । प्रत्यभिज्ञा और स्मृति में यही भेद है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए पदार्थ का उपस्थित होना जरूरी है, स्मृति में पदार्थ अनुपस्थित ही रहता है । महावत और हाथी दोनों को एक साथ देखने पर उन दोनों में से एक को देखने पर दूसरे की स्मृति होती है और जिसकी स्मृति होती है वह हमारे सामने नहीं होता, हमारे सामने जो होता है वह उद्बोधक कहलाता है । प्रत्यभिज्ञा में वह पदार्थ जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, हमारे सम्मुख होता है और हम केवल इस उसे रूप में जानते हैं कि यह वही है । अतः प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार मात्र जन्य नहीं है बल्कि प्रत्यक्षसहकृतसंस्कारजन्य है । तर्कसंग्रह की कुछ प्रतियों में 'मात्र' शब्द नहीं है और दीपिका में इस सम्बन्ध में जो व्याख्या दी है, वह भी नहीं है । सिद्धान्तचन्द्रोदय के सामने ये दोनों पाठ थे, और उन्होंने 'मात्र' पाठ को उपयुक्त माना है । जो लोग 'मात्र' शब्द को परिभाषा में नहीं रखते हैं, उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञा संस्कार से उत्पन्न ही नहीं होती किन्तु संस्कार से उत्पन्न होने वाली 'तत्ता' अर्थात् 'यह वही है' इस ज्ञान से उत्पन्न होती है । अतः यहाँ यदि 'मात्र' शब्द न भी रखें तो कोई हानि नहीं । नीलकण्ठ इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का कारण

१. अत्र प्राञ्चो नैयायिकाः स्मृतिलक्षणे न मात्रपदमावश्यकम् । न च सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिरिति वाच्यम् । तत्र संस्कार-जनिततत्ता-स्मृतिरेव हेतुः । न तु संस्कारोऽपि इत्यतिव्याप्तिविरहादित्याहुः—तर्क-कौमुदी, पृ. ६.

तादात्म्य का संस्कार है, मध्यवर्ती स्मृति नहीं। एक दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि स्मृति संस्कारमात्रजन्य नहीं, प्रत्युत अनुभवजन्य भी है। किन्तु यहां जन्य का अर्थ या तो साक्षात् जन्य मानना चाहिए और या जैसा नीलकण्ठ ने किया है, इसका अर्थ 'चक्षुराद्यजन्यत्वे सति (संस्कारजन्यत्वे सति नहीं) संस्कारजन्यत्वम्', लेना चाहिए। यहां 'ज्ञान' पद के आने से संस्कारध्वंस में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह संस्कारमात्र जन्य तो है, किन्तु ज्ञान नहीं है।

स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान अनुभव माने जाते हैं, अर्थात् वे ज्ञान जो नये हैं और पुराने ज्ञान की आवृत्ति मात्र नहीं हैं अनुभव है। अनुभव की यह निषेधात्मक परिभाषा इसलिए दी गई है कि अनुभव सभी मानसिक प्रक्रियाओं का अन्तिम मूल है और सारी मानसिक प्रक्रियाएं अनुभव से ही बनती हैं। स्मृति और बुद्धि को निकाल देने पर जो प्रक्रिया रहती है, वह अनुभव ही है बुद्धि का यह विभाजन गौतम के अनुसार है।

बौद्धिक दर्शन के अनुसार प्रशस्तपाद ने बुद्धि को दो भागों में बांटा है—विद्या और अविद्या। अविद्या चार प्रकार की है—संशय, विपर्यय, स्वप्न, अनध्यवसाय। विद्या भी चार प्रकार की है—इन्द्रियज, अनिन्द्रियज, स्मृति तथा आर्ष। इन्द्रियज दो प्रकार की है—सर्वज्ञीय और असर्वज्ञीय। असर्वज्ञीय भी दो प्रकार की है—सविकल्प और निर्विकल्प। इनमें से अनिन्द्रियज विद्या अनुमान है और आर्ष विद्या योगियों का प्रत्यक्ष है।^१

इस सम्बन्ध में यह जानने योग्य है कि पशुओं को जो ज्ञान होता है, वह बुद्धि के अन्तर्गत नहीं आता। क्योंकि पशु किसी पदार्थ का मानसिक बिम्ब नहीं बना सकते।

स द्विविधः—यथार्थोऽयथार्थश्च । तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः । यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम् । स एव प्रमेत्युच्यते । तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः । यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम् ॥

यह अनुभव दो प्रकार का है यथार्थ और अयथार्थ। जो पदार्थ जैसा हो

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ४११ तथा परवर्ती पृष्ठ, एवम् कणादरहस्य, पृ० ८९ तथा ११५

उसमें उसी प्रकार का अनुभव यथार्थ है। यही प्रमा भी कहलाता है। जो पदार्थ जैसा न हो उसमें वैसा ज्ञान होना अयथार्थ है। यही अप्रमा भी कहलाता है, जैसे सीप में 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान।

(त. वी.) अनुभवं विभजते—स द्विविधि इति । यथार्थानुभवस्य लक्षणमाह—तद्वतीति । ननु घटे घटत्वमिति प्रमायामव्याप्तिः; घटत्वे घटाभावादिति चेत्,—न; यत्र यत्संबंधोऽस्ति तत्र तत्संबंधानुभव इत्यर्थाद्घटत्वेऽपि घटसंबन्धोऽस्तीति नाव्याप्तिः । स इति । यथार्थानुभव एव शास्त्रे प्रमेत्युच्यत इत्यर्थः । अयथार्थं लक्षयति—तदभाववतीति । ननु 'इदं संयोगि' इति प्रमायामित्यव्याप्तिरिति चेत्,—न; यदवच्छेदेन यत्संबन्धाभावस्तदवच्छेदेन तत्संबन्धज्ञानस्य विवक्षितत्वात् संयोगभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्, संयोगावच्छेदेन संयोगसंबन्धस्य सत्त्वात् नातिव्याप्तिः ॥

अनुभव

अनुभव दो प्रकार का है—यथार्थ और अयथार्थ । यथार्थ अनुभव प्रमा है और अयथार्थ अप्रमा । जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना यथार्थ अनुभव है। इसका शास्त्रीय रूप इस प्रकार होगा—तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः प्रमा ।

यहां विशेष्य और प्रकार शब्दों को समझ लेना चाहिए। जब हमें कोई विशिष्ट ज्ञान होता है तो विशेष्य और प्रकार दोनों को ले कर ही होता है। जैसे अयं घटः यहाँ घट विशेष्य है और घटत्व जो घट को पटादि से भिन्न करता है, उसका प्रकार है। विशेषणतया प्रतीयमान को प्रकार करते हैं, आश्रयतया प्रतीयमान विशेष्य होता है। अतः अयंघट का अर्थ है—घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारक, अर्थात् जो घट विशेष्यवान् है और घटत्व प्रकार वाला है, वह घट ज्ञान है। इस प्रकार विशेष्य और प्रकार दोनों ज्ञान के स्वरूप को बताते हैं।

अतः तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः का अर्थ होगा घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारोऽनुभवः। अर्थात् वही घर्म जो पदार्थ में है, उस पदार्थ के ज्ञान को भी पृथक् करने वाले होने चाहिए, अतः वाक्यवृत्ति में कहा है—सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम् । अर्थात् तद्वति का यह अभिप्राय है कि घट में तत्ता अर्थात् घटत्व है और वह ज्ञान अयं घटः इस प्रकारतया भासमान है। संक्षेप में जो पदार्थ जैसा है, उसका उसी रूप में ज्ञान प्रमा है। इसका विपरीत अप्रमा है, जिसका अर्थ है, कि जो पदार्थ जिस रूप में नहीं है, उस रूप में उसका ज्ञान होना, जैसा रजत का शुक्ता में।

इस परिभाषा पर एक आक्षेप दीपिका में उठाया है। यहाँ अप्रमा की व्याख्या भी अतिव्याप्त है, क्योंकि 'ये दो पदार्थ परस्पर मिले हुए हैं' इस प्रकार के ज्ञान को भी यहाँ अप्रमा मान लिया जाएगा क्योंकि मिलने का अर्थ है संयोग और संयोग सर्वावयव में रहता नहीं है और संयोगवत् पदार्थ संयोगाभाववत् भी होते हैं। इस प्रकार 'इदं संयोगि' यह ज्ञान प्रमा अप्रमा दोनों होगा। किन्तु यह आक्षेप निराधार है। अप्रमा में पदार्थ के जिस भाग में संयोग है, वहाँ संयोग का ज्ञान नहीं होता और प्रमा में जिस भाग में संयोग है, वहीं संयोग का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में संयोग सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं, अतः समवाय सम्बन्ध का निषेध इस अप्रमा को नहीं होने देता।

सांख्य और वेदान्तदर्शन के अनुयायी प्रमा की यह परिभाषा कहते हैं—अनधिगताबाधितार्थविषयत्वम्। अर्थात् ऐसे पदार्थ का ज्ञान जो पहले अनधिगत था और जो कभी बाधित नहीं होता। यहाँ अनधिगत शब्द कहने से स्मृति में प्रमा की अतिव्याप्ति का निवारण होता है। अन्नम्भट्ट के अनुसार स्मृति भी दो की है—यथार्थ और अयथार्थ, यद्यपि स्मृति की प्रामाणिकता के आधार भिन्न हैं। कुछ नैयायिक स्मृति को एक ही प्रकार की मानते हैं। अयथार्थ अनुभव का विवेचन हम आगे करेंगे। प्रमा के जो चार विभाग किये हैं, वे अयथार्थ अनुभव पर भी लागू होते हैं। इन्द्रियों के या दूसरे कारणों में किसी विकार या त्रुटि के कारण अप्रमा हो सकती है या तर्क के गलत होने से अप्रमा हो सकती है या एक गलत उपमा द्वारा या शब्दों को गलत समझने से हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है। ये सभी प्रकार के ज्ञान विपर्यय माने जाएंगे जब तक कि उनमें संशय और तर्क के लिये जो शर्त अनिवार्य हैं, वे भी न पायी जाएं।

**यथार्थानुभवश्चतुर्विधः—प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात् ।
तत्करणमपि चतुर्विधम्—प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् ॥**

यथार्थ अनुभव चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। उनके करण (असाधारण कारण) भी चार प्रकार के हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

(त. दी.) यथार्थानुभवं विभजते—यथार्थेति । प्रसङ्गात्प्रमाकरणं विभजते—
तत्करणमिति । प्रमाकरणमित्यर्थः । 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' इति प्रमाण-
सामान्यलक्षणम् ॥

अनुभव के भेद

प्रमा के जो चार भेद यहाँ बतलाये गये हैं उनकी हम बाद में चर्चा करेंगे। किन्तु यह प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है। नियम है कि 'मानाधीना भेयसिद्धिः' अर्थात् पदार्थ मात्र की सिद्धि प्रमाण पर निर्भर करती है। यदि हम एक बार ज्ञान को प्राप्त करने वाले साधनों की प्रामाणिकता निश्चित कर लें तो उनके द्वारा सत्य ज्ञान की प्राप्ति कठिन नहीं रह जाती। इसलिये न्याय दर्शन के ग्रन्थों में प्रमाण की विस्तृत चर्चा है। अन्नम्भट्ट ने गौतम का अनुसरण करते हुए चार प्रमाण माने हैं। प्रमाण की परिभाषा दीपिका में दी है—प्रमाकरणम् अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन। किन्तु जहाँ पर वे साधन प्रामाणिक होते हुए भी किन्हीं बाह्य कारणों से अयथार्थ ज्ञान करवाते हैं, वहाँ यह परिभाषा लागू नहीं होती जैसे कामलादिदोषजन्यः पीतः शङ्खः इत्यादि।

प्रमाण की जो परिभाषा यहाँ दी है, उसमें प्रमाजनकत्व तो आया पर प्रमात्वज्ञापकत्व का निर्देश नहीं है अर्थात् प्रमाण प्रमा का जनक है यह तो वहाँ कहा गया किन्तु यह नहीं कहा गया कि प्रमाण प्रमा के प्रमात्व का भी ज्ञापक है। सर्वदर्शनसंग्रह में प्रमाण की परिभाषा दी है—साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तम्^१ अर्थात् जिसके अनन्तर यथार्थ ज्ञान हो, और जो ज्ञान के अधिकरण आत्मा और इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध हो, वह प्रमाण है। इस प्रकार प्रमाण प्रमा की अनिवार्य शर्त भी है, केवल प्रमा का कारण ही नहीं है। प्रमाण केवल सत्य को जानता ही नहीं है प्रत्युत सत्य की परीक्षा भी करता है। अतः यह प्रमा करण ही नहीं है, प्रमात्व ज्ञापक भी है। नैयायिक परतः प्रमाणवादी हैं। अर्थात् वे यह मानते हैं कि ज्ञान की प्रामाणिकता के लिये कोई अन्य साधन चाहिये। अतः वे इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते। प्रमाण न आत्मा है, न मन और न इन्द्रिय, अन्यथा इसके पृथक् परिगणन की आवश्यकता ही नहीं थी।

मीमांसक प्रमाण की परिभाषा 'अनधिगतार्थगन्तु' देते हैं किन्तु सिद्धान्तचन्द्रोदय का कहना है कि एक ही पदार्थ के क्रमशः बार बार प्रतीत होने पर धारावाहिक ज्ञान में प्रथम ही अनुभव प्रमा होगा शेष अधिगतार्थ होने के कारण

१. न्यायसूत्र, १. १. ३.

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २३५

प्रमा नहीं होंगे । मीमांसकों का कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञान भिन्न-भिन्न-क्षण-विशेषित होने के कारण क्षणरूपविषय के भिन्न-भिन्न होने से अनधिगतार्थ ही होगा ।

पाश्चात्य विद्वानों ने दो अन्य प्रकार के ज्ञान भी माने हैं—इन्ट्यूशन और बिलीफ । इन्ट्यूशन वह ज्ञान है जो बिना किसी इन्द्रिय के या मानसिक प्रक्रिया के बीच में आए, होता है । रेखागणित के सिद्धान्तों का, समय और स्थान का ज्ञान इसी प्रकार का है । नैयायिकों के विवेचन में इस प्रकार के ज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं है । काल और स्थान का ज्ञान नैयायिक उनके अपने-अपने कार्यों से अनुमेय मानते हैं । अन्य ज्ञानों को सम्भवतः वे पूर्वजन्म के संस्कारवश होने वाली स्मृति मानेंगे । इस पूर्वजन्म के सिद्धान्त के कारण भारतीय दार्शनिक बहुत सी ऐसी चीजों को व्याख्येय बना सके, जो कि पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानों के लिये अब्याख्येय रह गई । बिलीफ या फेथ उस ज्ञान को कहते हैं, जो हम उस पदार्थ के सम्बन्ध में रखते हैं, जो हमारे सम्मुख नहीं है, या जिन्हें हम तुरन्त नहीं देख सकते । नैयायिक सम्भवतः इसे शाब्द ज्ञान मानेंगे ।

असाधारण कारणं करणम् ।

असाधारण कारण को करण कहते हैं ।

(त. दी.) करणलक्षणमाह—असाधारणेति । साधारणकारणे दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणाय—असाधारणेति ॥

करण

करण असाधारण कारण है । टीकाकारों के अनुसार यहां असाधारण शब्द साधारण कारण काल और आकाश की व्यावृत्ति के लिये है । काल और आकाश कार्य सामान्य के प्रति कारण हैं केवल तत्तत् कार्य के प्रति नहीं । अतः वे असाधारण न होकर साधारण हैं । नीलकण्ठ ने असाधारण का यह अर्थ किया है—यद्विलम्बात्प्रकृतकार्यानुत्पादस्तत्कारणत्वम् अर्थात् जिसके न रहने पर कार्य की कभी भी उत्पत्ति न हो सके । किन्तु वस्तुतः इतना होने पर भी कोई असाधारण कारण तब तक करण नहीं होता जब तक कि उसमें व्यापार नहीं हो । यहां कारण स्वरूपयोग्यता है फलोपघायकता नहीं । दण्ड घट का असाधारण निमित्त कारण है और भ्रमी रूप व्यापारवान् भी है । इसी तरह ज्ञान के प्रति चक्षु करण है, क्योंकि उसमें सन्निकर्ष रूप

व्यापार है। यदि व्यापारवृत्त अनिवार्य न माना जाये तो चक्षुःसन्निकर्ष में भी कारणता आ जायेगी। किन्तु वन में स्थित दण्ड घट का करण नहीं हो सकता। यद्यपि यह परिभाषा वहां भी लागू होती है। अतः घट के बनाने में जो वस्तुतः लगे वही दण्ड घट का साधारण कारण होने से करण होगा, वन में स्थित दण्ड नहीं। अतः नैयायिक इस परिभाषा में व्यापारवृत्ते सति जोड़ देते हैं। व्यापार का सिद्धान्तचन्द्रोदय में यह लक्षण दिया है—
 द्रव्येतरत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः, अर्थात् जो स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु द्रव्य का जन्य है और उसका जनक भी है। परशु जब वृक्ष को काटता है, तो वह करण होता है और परशु और लकड़ी का परस्पर संयोग व्यापार है क्योंकि वह परशु से उत्पन्न होता है और छेदन की उत्पत्ति का कारण है। ऊपर द्रव्येतरत्वे सति इसलिये कहा गया है कि कपाल जोकि मध्यमावयवी है, अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न होता है, और घट को उत्पन्न करता है, व्यापार न माना जाय, क्योंकि वह स्वयं ही द्रव्य है।

यह परिभाषा प्राचीन नैयायिकों के अनुसार है। किन्तु नव्यनैयायिक इस विषय में सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि करण की परिभाषा है—
 फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् अर्थात् कार्य से नियत रूप से और तुरन्त पहले रहने वाला कारण करण है। यद्यपि इन परिभाषाओं में कोई भेद नजर नहीं आता, पर वस्तुतः एक इनमें मौलिक भेद है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार करण में व्यापार होना आवश्यक है कि नव्यनैयायिकों के अनुसार वह व्यापार ही स्वयं करण है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा कार्य के वह अधिक निकट है। उदाहरणतः किसी पदार्थ के देखने पर दृष्टि पदार्थ से सन्निकर्ष प्राप्त करती है। यहां प्राचीन नैयायिकों के अनुसार चक्षुः इन्द्रिय करण है जबकि नव्यनैयायिकों के अनुसार स्वयं सन्निकर्ष ही करण है। प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा में जब अनुमिति का कारण लिगज्ञान या व्याप्तिज्ञान माना जाता है तो यह असंगति आती है कि ज्ञान स्वयं ही गुण है, और इस प्रकार वह स्वयं पदार्थ में रहता है, उसमें कोई अन्य व्यापार नहीं रह सकता। अनुमिति में प्राचीन नैयायिक परामर्श को व्यापार कहते हैं और नव्यनैयायिक उसे करण मानते हैं। दूसरे यदि प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा मानें, तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष का करण इन्द्रियां हैं, उस प्रकार अनुमिति का करण भी मन होना चाहिए, व्याप्ति नहीं। और मन क्योंकि सुखादि प्रत्यक्ष का भी करण है, अतः इस प्रकार वह अनुमिति और मानस प्रत्यक्ष दोनों का करण हो

जाएगा। अतः नव्यनैयायिक कारण की परिभाषा 'फलव्याप्तम्' मानते हैं और प्राचीन नैयायिकों के अनुसार जो कारण है, उसे वे असाधारण कारण न मानकर सामान्य कारण मानते हैं।

केशवमिश्र ने कारण की परिभाषा 'साधकतमं कारणं' दी है जिस प्रकृष्टं कारणं भी कहा जाता है।^१ एक कार्य के अनेक कारण होते हैं किन्तु कुछ कारण उस कार्य में विशेष रूप से सहायक होते हैं। यदि किसी व्यक्ति को दो मारने वालों में से एक उसे पकड़े रहे और दूसरा मारे तो केवल पकड़ने वाले से मारने वाला अधिक सक्रिय माना जायेगा। रथ के पहिये जो रथ को गति देते हैं, उतने सक्रिय नहीं हैं जितने कि घोड़े जो उसे खींचते हैं। अतः इस प्रकार के विशिष्ट कारण कारण हैं। व्यापार ही कारण की विशेषता है। किन्तु व्यापारवत्त्व से ही तो कर्ता भी कारण मान लिया जाएगा, क्योंकि वह सबसे अधिक सक्रिय होता है। कारण की परिभाषा करते समय कर्ता में अतिव्याप्ति नहीं आये इसका इस लक्षण में कोई उपाय नहीं किया गया। केशवमिश्र प्रमाण की परिभाषा 'प्रमाकरण' करते समय कहते हैं—सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ तु सत्यविलम्बेनैव प्रमोत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादिरेव कारणम्,^२ जो अविलम्ब कार्य की उत्पत्ति करे, यही कारण का प्रकर्ष है और यह केवल इन्द्रिय सन्निकर्ष में होता है। जाता और ज्ञेय व्यापारवान् होने पर भी कारण नहीं कहलाते। इस प्रकार कारण शब्द की परिभाषा में से व्यापारवत्त्व का तत्त्व निकल गया और 'अविलम्बेन कार्योत्पादकत्व' या 'फलायोगव्यवच्छिन्नत्व' शब्द प्रधान हो गया और इस तरह नव्यनैयायिकों में प्राचीन नैयायिकों में भेद प्रारम्भ हो गया। किन्तु इस परिभाषा में कारण के अन्तर्गत इन्द्रियाँ भी नहीं आती थीं, और नव्यनैयायिकों ने तो इस स्थिति को स्वीकार कर लिया किन्तु प्राचीन नैयायिक इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने प्रमाण की परिभाषा यह दी—अनुभवत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वे सति। यहाँ प्रमाता, कारणता का आश्रय होने के कारण, अर्थात् प्रमा के अतिरिक्त अन्य भी कार्यो का आश्रय होने के कारण प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आयेगा। कारण के सम्बन्ध में नव्यनैयायिकों का और प्राचीन नैयायिकों के बीच यह विवाद प्रौढ़ ग्रन्थों में बहुत विस्तार से दिया गया है।

१. तर्कभाषा, पृ० २८

२. उपरिवत्, पृ० ३२

अन्नम्भट्ट के इस सम्बन्ध में क्या मत था, यह जानने के लिये यह जानना होगा कि बहुत सी पुस्तकों में व्यापारवदसाधारण कारणं करणम् पाठ दिया गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि दीपिका, सिद्धान्तचन्द्रोदय और नीलकण्ठ की टीका में व्यापारवत् शब्द नहीं था। यदि यह शब्द यहां होता, तो किसी टीका में या मूलग्रन्थ में व्यापार की व्याख्या भी होती। अतः यहां यह शब्द मूलतः नहीं रहा होगा। सम्भवतः अन्नम्भट्ट इस विषय में स्पष्ट भी नहीं थे कि वे किस मत को स्वीकार करें। एक ओर वे इन्द्रियों को प्रत्यक्ष का करण मानते हैं और दूसरी ओर परामर्श को अनुमिति का करण मानते हैं। किन्तु संभवतः वे इस विवाद में इसलिये नहीं पड़ना चाहते थे कि वे 'बालानां सुखबोधाय' लिख रहे थे। अतः उन्होंने प्रत्यक्ष और उपमिति में तो प्राचीन दृष्टि से विवेचन किया और अनुमिति में परामर्श को करण मानकर नव्य दृष्टि का अनुसरण किया। अतः उन्होंने असाधारण शब्द का प्रयोग करके इस विवाद को अनिर्णीत ही रहने दिया।

कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् ।

जो कार्य के पूर्व नियत रूप में रहे वह कारण कहलाता है ।

(त. दी.)—कारणलक्षणमाह—कार्येति । 'पूर्ववृत्ति कारणम्' इत्युक्ते रासभादावतिव्याप्तिः स्यादतो नियतेति । तावन्मात्रे कृते कार्येऽतिव्याप्तिरतः पूर्ववृत्तीति ॥ ननु तन्तुरूपमपि पटं प्रति कारणं स्यादिति चेत्,—न; अनन्यथासिद्धत्वे सतीति विशेषणात् । अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धिविरहः । अन्यथासिद्धिश्च त्रिविधा । येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तेन तदन्यथासिद्धम् । यथा तन्तुना तन्तुरूपं, तन्तुत्वं च पटं प्रति । अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तदन्यथासिद्धम् । यथा शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव घटं प्रत्याकाशस्य, अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनैव कार्यसंभवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम् । यथा पाकजस्थले गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य । एवं चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् ॥

कारण

करण शब्द की परिभाषा में कारण शब्द आया है। कारण की परिभाषा यहां दी है कि जो कार्य के नियत रूप से पूर्ववर्ती हो। स्पष्ट है कि

१. यह पाठ न्यायबोधिनी में भी मिलता है।

कार्य से पहले कारण को होना ही चाहिए। किन्तु कारण के अतिरिक्त कार्य से पूर्व अन्य भी अनेक पदार्थ रह सकते हैं। घट बनाने से पूर्व घट बनाने की मिट्टी बालगाड़ी में भी आ सकती है, और गधे पर भी। किन्तु ये दोनों ही घड़े के कारण नहीं माने जाएंगे, क्योंकि वे घट के पूर्व नियत रूप से नहीं रहते।

इस मूल परिभाषा में भी दीपिका ने 'अनन्यथासिद्धत्वे सति' जोड़ा अर्थात् कारण को कार्य के साथ दूरवर्ती सम्बन्ध वाला नहीं होना चाहिए। उदाहरणतः कुम्भकार का पिता भी घट के पूर्व नियतरूप से होता ही है। क्योंकि उसके बिना कुम्भकार नहीं हो सकता और कुम्भकार के बिना घट नहीं हो सकता। किन्तु कुम्भकार का पिता का सम्बन्ध घट के साथ बहुत दूरवर्ती है। अतः वह घट का कारण नहीं है। इसी प्रकार दण्ड घट का कारण है किन्तु दण्ड का रूप नहीं, यद्यपि कार्य से पहले वह भी होता अवश्य है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में इस परिभाषा की यह व्याख्या की है—कार्यान्नियता (अवश्यंभाविनी) पूर्ववृत्तिः (पूर्वक्षणवृत्तिः) यस्य तत्तथा। नियतपूर्ववृत्तित्व की व्याख्या—'अव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन कार्यदेशे सत्त्वम्' के रूप में की गई है अर्थात् तुरन्त पूर्ववर्ती काल में कार्य के ही स्थलपर जो उपस्थित हो, इस प्रकार गधा, कुम्भकार का पिता, और अरण्यस्थ दण्ड इन सबका व्यावर्तन हो जाता है। किन्तु दण्डरूप और दण्डत्व जाति की व्यावृत्ति अनन्यथासिद्ध से ही होती है। वाक्यवृत्ति में कारण की पूर्ण परिभाषा इस रूप में दी है—नियतान्यथासिद्धभिन्नत्वे सति कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्न-कार्याधिकरणदेशनिरूपिताधेयतावदभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत् कारणम्। कारण की इस परिभाषा में कारण की इतनी शर्तें दी हैं—१. इसे कार्य के पूर्व अनिवार्य रूप से रहना चाहिए। २. इसका सम्बन्ध कार्य से सीधा होना चाहिए। ३. इसे कार्याधिकरणवृत्ति अभाव का प्रतियोगी नहीं होना चाहिए। ४. इसे कार्य के अधिकरण देश में ही होना चाहिए और ५. यह कार्य के तुरन्त पूर्ववर्ती क्षण में होना चाहिए। मिल ने कारण की जो परिभाषा दी है, उसमें दो ही बातें प्रमुख हैं कि कारण को कार्य के पूर्व में नियतवर्ती होना चाहिए और बिना शर्त के होना चाहिए।

कारण की परिभाषा में मूल पुस्तक में अनन्यथासिद्ध शब्द नहीं दिया गया। सम्भवतः दीपिका ने बाद में इसे जोड़ा। अनन्यथासिद्ध अन्यथासिद्ध का उल्टा है। अन्यथासिद्ध का अर्थ है जो कार्य में अनुपयोगी होकर स्थित रहे। जैसे दण्ड के साथ रहने वाली दण्डत्व जाति। दण्डरूप भी अन्यथासिद्ध ही है।

दीपिका में अनन्यथासिद्धत्व के तीन प्रयोजक बताये हैं—१. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध । जैसे पट के पूर्ववर्ती तन्तु में रहने वाला तन्तुत्व या तन्तु रूप । २. जिनका पूर्ववर्तित्व अन्य के पूर्ववर्तित्व से सापेक्ष हो वहाँ वे अन्यथासिद्ध होते हैं । जैसे कुम्भकार से पहले रहने वाला कुम्भकार का पिता । ३. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध से रहने वाले तत्त्व जैसे, रूपप्रागभाव गन्ध का कारण नहीं है, यद्यपि यह गन्धप्रागभाव का सहवर्ती है । विश्वनाथ ने अन्यथासिद्ध के निम्न पांच प्रयोजक दिये हैं—

- येन सह पूर्वभावः (१) कारणमादाय वा यस्य (२) ।
 अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् (३) ॥
 जनकं प्रति पूर्ववर्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते (४) ।
 (मिथ्या) अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः (५) ।

इनके उदाहरण निम्न कारिकाओं में दिये हैं :—

- एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।
 घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥
 तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनको परः ।
 पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वाम्यवश्यकस्त्वसौ ॥^३

इनमें से प्रथम दो तो अन्नम्भट्ट के प्रथम वर्ग में आ जाएंगे, तीसरे और चौथे दूसरे वर्ग में आएंगे और पांचवां तीसरे वर्ग में । यह कहा जा सकता है कि अन्यथासिद्ध शब्द के अन्तिम वर्ग में रासभ इत्यादि की व्यावृत्ति हो जाती है, फिर नियत शब्द की क्या आवश्यकता है । किन्तु एक विशेष रासभ घट के लिये अन्यथासिद्ध हो सकता है, किन्तु रासभत्व सामान्यतः घटत्व के लिये अन्यथासिद्ध नहीं होता, अतः नियत शब्द आवश्यक है । वस्तुतः नियत शब्द के प्रयोग से अन्यथासिद्ध का भाव स्पष्ट हो जाता है ।

१. भाषापरिच्छेद, १९-२०

२. उपरिवत्, २१-२२

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि ॥

जो प्रागभाव का प्रतियोगी हो वह कार्य है ।

(त. दी.)—कार्यलक्षणमाह—कार्यमिति ॥

कार्य

प्रागभाव का प्रतियोगी कार्य है । दूसरे शब्दों में कार्य वह है जिसका प्रारम्भ हो । प्रागभाव अनादि होता है किन्तु अनन्त नहीं होता । प्रागभाव स्वयं अपना प्रतियोगी नहीं हो सकता, अतः वह कार्य नहीं है ।

प्रतियोगी शब्द का प्रयोग न्यायदर्शन में बहुत अधिक होता है । प्रतियोगी शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है । प्रतियोगी एक सम्बन्ध है, और भाव और अभाव में सम्बन्ध इसलिये सम्भव माना जाता है कि नैयायिकों के अनुसार अभाव की भी एक स्वतन्त्र सत्ता है और प्रतियोगी वस्तुतः दो पदार्थों में वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत प्रमाता अपनी कल्पना से दो पदार्थों में इसका आरोप कर लेता है और क्योंकि यह आरोपित घर्म है, अतः दो असत् पदार्थों में भी रह सकता है । इस प्रकार अभाव यद्यपि एक निषेधात्मक तत्त्व है, किन्तु अभाव का भाव वास्तविक है । अतः इसका बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध होना चाहिए । अभाव के भाव का सम्बन्ध स्वयं अभाव से तो हो नहीं सकता, क्योंकि बाह्य जगत में अभाव नाम का कोई विध्यात्मक पदार्थ नहीं है । अतः अभाव का सम्बन्ध छः पदार्थों में से ही, जो कि भावात्मक हैं, किसी एक से होना चाहिए । भाव पदार्थों का अभाव के साथ यह सम्बन्ध प्रतियोगिता है । जैसे घट घटाभाव का प्रतियोगी है, पट पटाभाव का प्रतियोगी है । ये सभी प्रतियोगिता सम्बन्ध विरुद्ध कहलाते हैं । एक अन्य प्रतियोगितासम्बन्ध वित्तिवेद्यत्व है जो कि एक पदार्थ और इसके गुणों में या दो पदार्थों में होता है । उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि मुख चन्द्रमा के समान है, तब चन्द्रमा मुख का सादृश्य सम्बन्ध से प्रतियोगी है क्योंकि यहाँ भी सादृश्य का भाव समझने के लिये चन्द्रमा का ज्ञान होना आवश्यक है । किन्तु यह प्रतियोगिता एक भिन्न प्रकार की है । विरुद्धत्व सम्बन्ध में दो में से एक पदार्थ भावात्मक होता है, दूसरा अभावात्मक, जबकि यहाँ दोनों ही पदार्थ भावात्मक हैं । जिस पदार्थ के साथ प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है, वह अनुयोगी कहलाता है जैसे कि चन्द्र सादृश्य में मुख सादृश्य का अनुयोगी

है । इसी प्रकार घटाभाव का भूतल अनुयोगी है । इस प्रकार घट घटप्रागभाव का प्रतियोगी है और कार्य समस्त प्रागभाव का प्रतियोगी है ।

कार्य की परिभाषा के सम्बन्ध में कार्य-कारण सम्बन्ध का सिद्धान्त बहुत विवादास्पद है । यह सिद्धान्त इस प्रकार है कि कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है और उत्पत्ति से पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं होता । यह सिद्धान्त न्यायवैशेषिक दर्शन को अन्य दर्शनों से पृथक् कर देता है । इस सम्बन्ध में माधवाचार्य ने कार्यकारण भाव के चार प्रकार दिखाये हैं—इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति । असत् सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते । नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति । वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तु सदिति । साङ्ख्यः पुनः सतः सज्जायत इति^१ ।

बौद्धों का कहना है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है । वेदान्ती इससे सर्वथा विपरीत मत मानते हैं और कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं । नैयायिक और सांख्य कारण और कार्य दोनों को ही सत् मानते हैं । किन्तु सांख्य उन दोनों को ही हर समय सत् मानते हैं और यह मानते हैं कि ये दोनों साथ-साथ रहते हैं । किन्तु नैयायिक उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता नहीं मानते । बौद्धों के अनुसार कार्य असत् में से आता है । नैयायिकों के अनुसार पुराने कारण में से एक नया कार्य उत्पन्न होता है । सांख्य दर्शन के अनुसार कारण में निहित गुणों का विकास ही कार्य के रूप में प्रकट होता है और वेदान्तियों के अनुसार वस्तुतः कारण में कोई परिवर्तन नहीं आता, केवल हमारी मानसिक कल्पना कार्य को जन्म देती है ।

बौद्ध मत इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के विरुद्ध है कि असत् से असत् ही उत्पन्न हो सकता है और इसकी सबने कटु आलोचना की है ।^२ वेदान्तियों का मायावाद एक स्वतन्त्र ही सिद्धान्त है । किन्तु परस्पर सांख्य और नैयायिकों के सिद्धान्तों में, जिन्हें क्रमशः सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद कहा जाता है, तीव्र प्रतिस्पर्द्धा है । अन्नम्भट्ट ने जो कार्य की परिभाषा दी है, उसमें असत् कार्यवाद स्पष्ट है । कार्य प्रागभाव का प्रतियोगी है और उत्पत्ति से पहले उसकी कोई स्थिति नहीं होती ।

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३२०-३२१

२. नासतोऽदृष्टत्वात्—शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र, २.२.२६

सत्कार्यवाद के पक्ष में दी जाने वाली युक्तियां सांख्यकारिका की निम्न कारिका में साररूप में दी हैं—

असदकरणाद्, उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

असत्कार्य के विरुद्ध यहां पांच कारण दिये हैं। पहला कारण यह है कि असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। दूसरा यह है कि उपादान कारण कार्य के साथ सर्वदा मिला हुआ रहता है। जैसाकि तेल तिलों में पहले से ही उपस्थित होता है और असत् का तो कोई सम्बन्ध किसी के साथ हो नहीं सकता। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य को होना ही चाहिए। तीसरे यदि कारण में कार्य किसी भी रूप में उपस्थित ही नहीं होता, तो फिर किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि इसका नियामक कुछ भी नहीं रहता कि एक विशेष कारण से एक कार्य विशेष ही उत्पन्न हो, जबकि हम देखते यह हैं कि एक निश्चित कारण से एक निश्चित कार्य ही उत्पन्न होता है। चौथे यदि यह माना जाय कि कारण में कुछ ऐसे गुण निहित रहते हैं, जो एक कार्य विशेष को ही जन्म देते हैं तो यह प्रश्न आयेगा कि उन गुणों का कार्य से कोई सम्बन्ध है या नहीं। यदि सम्बन्ध है, तब तो कार्य की पूर्वसत्ता कारण में हो ही गई और यदि कोई सम्बन्ध नहीं है, तो कठिनाई ज्यों की त्यों बनी रही कि एक विशेष प्रकार के गुण से एक विशेष प्रकार का कार्य ही क्यों उत्पन्न होता है। पाँचवीं आपत्ति यह है कि कारण और कार्य का एक ही स्वभाव पाया जाता है, अतः दोनों को एक साथ ही रहने वाला मानना चाहिए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है तो उन दोनों में परस्पर सम्बन्ध कैसे माना जाएगा? यह सिद्धान्त इस बौद्ध मत के बहुत निकट जा पड़ता है कि कार्य की उत्पत्ति असत् से होती है और इसी आधार पर न्यायवंशेषिक दर्शन को अर्धवैनाशिक अर्थात् अर्धबौद्ध कहा जाता है।

न्यायिक इन युक्तियों के विरोध में प्रधान युक्ति यह देते हैं कि यदि कार्य और कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं, तो फिर उन दोनों में भेद कैसे हो जाता है। यदि घट अपने कारण मिट्टी से भिन्न नहीं होगा तो वह घट ही कैसे बनेगा ?

वही परमाणु घट का भी कारण हो सकते हैं, और शराब का भी और यदि वे घट और शराब अपने कारण से भिन्न नहीं हैं, तो वे परस्पर भी भिन्न नहीं हो सकते अर्थात् घट और शराब को एक ही होना चाहिए। किन्तु वे दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ तक आकार की भिन्नता का सम्बन्ध है, आकार उस कार्य के प्रत्येक भाग में तो रहता नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह कारण में ही रहता है और इसकी अभिव्यक्ति ही होती है। अतः घट के आकार की, और उन गुणों की जो इसे अपने भागों में भिन्न करते हैं, नयी उत्पत्ति माननी चाहिए। न्यायदर्शन का असत्कार्यवाद बौद्धों के शून्यवाद की ओर झुका हुआ है और सांख्य का सत्कार्यवाद या परिणामवाद वेदान्तियों के विवर्त्त या मायावाद की ओर झुका हुआ है। यदि कार्य कारण से भिन्न है तो इसके गुण या तो वास्तविक हैं या अवास्तविक। यदि वे वास्तविक हैं तो या तो उन्हें नई उत्पत्ति मानना होगा या केवल मात्र अभिव्यक्ति। यदि अभिव्यक्ति माना जाए, तो उस अभिव्यक्ति की एक और अभिव्यक्ति और उसकी फिर एक और अभिव्यक्ति माननी होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। यदि गुण अवास्तविक हैं तो वे केवल मानसिक कल्पना से और अध्यास द्वारा हमें दिखाई देते हैं। यह विवर्त्तवाद का सिद्धान्त है।

असत्कार्यवाद से वस्तुवादी दर्शनों का प्रादुर्भाव होता है और सत्कार्यवाद से मायावादी दर्शन का। तर्कसंग्रह में इस विषय की कोई चर्चा नहीं की गई किन्तु हमने इस सिद्धान्त की महत्ता को ध्यान में रखते हुए संक्षेप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यहाँ किया है। यह विवाद उपादानकारण के सम्बन्ध में भी उपस्थित होता है। निमित्त कारण के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है और समवायी कारण को नैयायिकों के अतिरिक्त और कोई स्वीकार नहीं करते।

समवायी कारण का विरोध सबसे अधिक सत्कार्यवाद के पक्षपाती मीमांसकों ने किया। इस सम्बन्ध में दोनों ओर दिये जाने वाले प्रमाण बहुत प्रबल हैं और यह निश्चय करना बहुत कठिन हो जाता है कि सचाई क्या है। और यह ध्यान देने योग्य बात है कि भारतीय नैयायिकों ने आगमनात्मक रीति से इस समस्या पर विचार नहीं किया और मूल रूप से निगमनात्मक प्रणाली पर ही विचार किया। उदाहरणतः कारण को अन्यथासिद्ध कहा है किन्तु अन्यथासिद्ध की कोई पूर्ण परिभाषा नहीं दी गई और इसका वर्गीकरण भी बहुत वैज्ञानिक नहीं है। कुम्भकार का

पिता अन्यथासिद्ध है किन्तु कुम्भकार के बारे में कुछ नहीं कहा गया। स्वयं कुम्भकार अपनी गति द्वारा घट को बनाता है और इस रूप में उसकी गति ही अन्यथासिद्ध नहीं है और कुम्भकार तो अन्यथासिद्ध हो जाता है। किन्तु उसकी गणना न्यायदर्शन में दण्ड चक्र इत्यादि निमित्त कारणों के समान ही की गई है। इस प्रकार एक बुद्धिमान् कर्ता और बुद्धिहीन जड़ निमित्तों में जो भेद है उसे नहीं परखा गया।

उपादानकारण और निमित्तकारण में भी जो मौलिक भेद है, वह नहीं बतलाया गया। पानी के स्नेह गुण के कारण पार्थिव परमाणु घट के रूप में आते हैं। यहाँ जल केवल उपादानकारण होगा या निमित्त कारण ? यहाँ ऐसा लगता है कि जल को उपादानकारण होना चाहिए क्योंकि उसे घट से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः घट का पृथ्वी के साथ-साथ जल भी समवायी कारण है। किन्तु ऐसा लगता है कि नैयायिक यह नहीं मानते। नैयायिकों ने यह ध्यान नहीं दिया कि एक ही पदार्थ में बहुत से उपादानकारण हो सकते हैं। सत्कार्यवाद के अनुसार जल और मिट्टी दोनों ही उपादान कारणों में उत्पत्ति से पूर्व घट होना चाहिए। किन्तु जल और पृथ्वी घट की उत्पत्ति के पूर्व एक दूसरे से बहुत पृथक्-पृथक् रहते हैं और उनमें घट की स्थिति मानना न्यायसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों ही सिद्धान्तों के पक्ष विपक्ष में अन्य भी कारण दिये जा सकते हैं दोनों ही सिद्धान्तों में सम्भवतः यह मान लिया गया है कि कार्य का एक ही कारण होता है और वह इसके साथ सदा रहता है। किन्तु मिल जैसे विद्वानों ने अनेक कारणों से कार्य की उत्पत्ति मानी है। एक ही कार्य अनेक कारणों में से किसी एक से भी उत्पन्न हो सकता है और एक ही कारण भिन्न-भिन्न रूप में मिलने पर भिन्न-भिन्न कार्यों को जन्म देता है। उदाहरणतः अग्नि या तो विद्युत् से उत्पन्न होती है या संघर्ष से किन्तु क्योंकि इन दोनों में से कोई भी उष्णता के नियत रूप से पूर्ववर्ती नहीं है, अतः कोई भी कारण नहीं बन सकता। नैयायिक यह कह सकते हैं कि ये दोनों ही वैकल्पिक कारण हैं। किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त सत्कार्य या असत्कार्यवाद में निमित्त कारण को कोई महत्व नहीं दिया गया। वस्तुतः यहाँ विवाद सैद्धांतिक अधिक रहा है और व्यावहारिक कम।

वस्तुतः कारण कार्य पदार्थों का क्रमिक विकास है। कारण का भाव इन्ट्यूटिव है। यह विचार संभवतः वेदान्तियों ने ही रखा जिन्होंने कार्य को एक आरोपित

या अध्यस्त धर्म माना । किन्तु नैयायिकों के वस्तुवादी दृष्टिकोण में इसके लिये कोई स्थान नहीं है ।

कारणं त्रिविधम्—समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् । यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम् । यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः । कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम् । यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य । तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम् । यथा तुरीवेमादिकं पटस्य ।

कारण तीन प्रकार का है समवायी, असमवायी और निमित्त । जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायी कारण है जैसे तन्तु पट के और पट अपने रूप का । कार्य या कारण के साथ एक पदार्थ (अधिकरण) में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला कारण असमवायिकारण है जैसे तंतु का संयोग पट का और तन्तु का रूप पट के रूप का । इन दोनों से भिन्न कारण निमित्त कारण है जैसे तुरी और वेमा आदि पट के ।

(त. वी.)—कारणं विभजते—कारणमिति समवायिकारणस्य लक्षणमाह—यत्समवेतमिति । यस्मिन्समवेतमित्यर्थः । असमवायिकारणं लक्षयति—कार्येणेति । कार्येणेत्येतदुदाहरति—तन्तुसंयोग इति । कार्येण पटेनैकस्मिन्स्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणमित्यर्थः । कारणेन सहैकस्मिन्स्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारणमित्यर्थः । निमित्तकारणं लक्षयति—तदुभयेति । समवाय्यसमवायिभिन्नं कारणं निमित्तकारणमित्यर्थः ॥

कारण

पट का तन्तु समवायिकारण है क्योंकि पट तन्तु में समवायी सम्बन्ध से उत्पन्न होता है । इसी प्रकार पट रूप का भी समवायिकारण पट है । पदार्थ के खण्ड उस समुदायात्मक पदार्थ के समवायिकारण होते हैं और उसके गुण और कर्म के भी ।

कार्य और समवायिकारण के बीच असमवायिकारण एक शृंखला है । यह दो प्रकार का है—एक उपादान कारण का समवायिकारण जो कि कार्य

का समानाधिकरण होता है, तन्तुओं का संयोग जो पट के बनाने में कारण है, असमवायिकारण है। किन्तु यह तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है और पट का समानाधिकरण है। यह तन्तु संयोग पट के लिये अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना केवल तन्तुओं का समूह हो सकता है, पट नहीं बन सकता। दूसरे प्रकार के असमवायिकारण का उदाहरण तन्तु रूप है, जो पट रूप का असमवायिकारण है। यहां पटरूप पट में रहता है और तन्तुरूप तन्तु में। अतः दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं है और कार्यकारण का सामानाधिकरण्य अपेक्षित है। अतः जहां साक्षात् सामानाधिकरण्य नहीं हो पाया, वहाँ परम्परासम्बन्ध से सामानाधिकरण्य दिखाया गया है। क्योंकि यह समवायितन्तुओं से समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है और पट रूप का समवायिकारण है। जैसाकि सिद्धान्त-चन्द्रोदय में कहा गया है वे परम्परा-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं—पटरूपसमवायिकारणीभूतपटसामानाधिकरण्यस्य तत्त्वे सत्त्वात् परम्परासंबन्धेन पटरूपसामानाधिकरण्यमपि सुलभमेवेति भावः। परम्परासंबन्धश्च समवायिसमवायः। अर्थात् तन्तुसंयोग समवाय सम्बन्ध से पट का समानाधिकरण है। तन्तुरूप पटरूप के साथ समवायिसमवाय से समानाधिकरण है। अर्थात् पटरूप का जो समवायिकारण पट है, उसका समवाय है। तन्तु-संयोग और तन्तु-रूप पट और पट रूप के असमवायि कारण ही माने जाते हैं। अतः सिद्धान्तचन्द्रोदय में दोनों प्रकार के असमवायिकारणों की यह परिभाषा दी है—समवाय-स्वसमवायिसमवायान्यतरसंबन्धेन कार्येण सहैकस्मिन्नर्थो समवायेन प्रत्यासन्नत्वे सति आत्मविशेषगुणान्यत्वे सति कारणमसमवायिकारणम्। अर्थात् असमवायिकारण समवाय सम्बन्ध से कार्य के समानाधिकरण में समवाय या समवायिसमवाय से रहता है और आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न भी होता है। आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न कहने का यह प्रयोजन है कि ज्ञान जो एक ही अधिकरण आत्मा में उत्पन्न होते हैं, असमवायिकारण न मान लिये जाएं। इस परिभाषा में कारण शब्द का अर्थ समवायिकारण है।

उपादानकारण वह कारण है जो कार्य के लिये अनिवार्य है और साथ ही उससे पृथक् भी नहीं किया जा सकता। किन्तु दण्ड चक्र इत्यादि जो घट की उत्पत्ति के लिये आवश्यक हैं, किन्तु उससे पृथक् रहते हैं, निमित्त कारण हैं।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य निमित्त आठ हैं—ईश्वर, उसका ज्ञान, कृति, दिक्, काल तथा धर्म अधर्म। विशेष निमित्त कारण असंख्य हैं।

कुछ लोगों ने कारण को पहले दो भागों में बांट लिया है—मुख्य और गौण । इनमें मुख्य के उपर्युक्त तीन भाग किए हैं—इन तीन में समवायिकारण तो सदा द्रव्य ही होता है । असमवायिकारण या कर्म होता है या गुण और निमित्त कारण कोई भी हो सकता है । अभाव केवल निमित्त कारण ही बन सकता है ।

असमवायिकारण केवल वे ही कारण नहीं हैं जो कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध न हों । क्योंकि इस प्रकार तो निमित्त कारण भी असमवायी मान लिए जाएंगे और असमवायिकारण का एक प्रकार असमवायी न माना जाएगा । ऐसा लगता है कि नैयायिकों ने दो प्रकार के कारण पहले माने—एक जो कार्य से पृथक् किए जा सकें, जो कि निमित्त कारण हैं, और दूसरे वे जो पृथक् न किए जा सकें । वे दो प्रकार के हैं—समवायी और असमवायी । इस प्रकार असमवायिकारण वह है जो समवायी से भिन्न है और कार्य से पृथक् नहीं किया जा सकता । दूसरे दर्शन असमवायिकारण को नहीं मानते ।

तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम् ॥

इन तीनों कारणों में जो असाधारण कारण हो उसे करण कहते हैं ।

(त. दी.)—करणलक्षणमुपसंहरति—तदेतदिति ॥

यहाँ, वा तो जैसा कि न्यायबोधिनीकार ने किया है, 'व्यापारवत्त्वे सति' पद जोड़ने चाहिये, या असाधारण का अर्थ ही यह मान लेना चाहिये । इस अंश में अन्नम्भट्ट केशवमिश्र से प्रभावित प्रतीत होते हैं । तुलना कीजिये—तदेवं तस्य त्रिविधकारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्' अन्नम्भट्ट ने 'सातिशय' के स्थान पर 'असाधारण' पद रखा, किन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं है ।

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम् । इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तद्द्विविधम्—निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति । तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्, यथेदं किञ्चित् । सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा—डित्थोऽयं श्यामोऽयमिति ॥

इनमें प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। वह दो प्रकार का है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। इनमें निष्प्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध-ज्ञान रहित) ज्ञान निर्विकल्पक है। सप्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध-ज्ञान सहित) ज्ञान सविकल्पक है। जैसे यह डिट्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है।

(त. दी.)—प्रत्यक्षलक्षणमाह—तत्रेति । प्रमाणचतुष्टयमध्य इत्यर्थः । प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह—इन्द्रियेति । इन्द्रियं चक्षुरादिकम् । अर्थो घटादिः । तयोः सन्निकर्षः संयोगादिः, तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः ॥ तद्विभजते—तद् द्विविधमिति । निर्विकल्पकस्य लक्षणमाह—निष्प्रकारकमिति । विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानमित्यर्थः ॥ ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणम् ? इति चेत्—न; गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वाद्बण्डीति ज्ञानवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्निर्विकल्पकसिद्धिः ॥ सविकल्पकं लक्षयति—सप्रकारकमिति । नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसंबन्धानवगाहि ज्ञानमित्यर्थः । सविकल्पकमुदाहरति—यथेति ॥

प्रत्यक्ष

करण कारण, और कार्य की परिभाषा देने के बाद अन्नम्भट्ट चार प्रकार के ज्ञान तथा प्रमाण का वर्णन करते हैं। इनमें प्रमाण कारण है और ज्ञान कार्य। प्रत्यक्ष शब्द, प्रमाण और ज्ञान, दोनों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। किन्तु अन्य लेखकों ने ज्ञान को साक्षात्कार कहा है और प्रमाण को साक्षात्कार-ज्ञानकरणम् कहा है। कुछ लोगों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रत्यक्षप्रमाकरणम् या साक्षात्कारिप्रमाकरणम् भी दी है। किन्तु अन्नम्भट्ट ने यहां ज्ञान शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया है ताकि उसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का ज्ञान आ सके। जो प्रमा के चार भेद हैं वही अप्रमा के भी हैं। कोई ज्ञान शुद्ध है या अशुद्ध इसका निश्चय दोषाभाव से होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष तो दोनों दिशाओं में एक जैसा ही है। निश्चित है कि यदि ज्ञान शुद्ध या अशुद्ध होगा तो उसका प्रभाव प्रमाण पर भी पड़ेगा। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति है 'प्रतिगतमक्षम्' अथवा 'अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः'। अर्थात् प्रत्येक विषय के साथ

१. तर्ककौमुदी, पृ० ८

२. तर्कभाषा, पृ० ३२

इन्द्रिय का रहना । जब प्रत्यक्ष का अर्थ ज्ञान होता है तो इसकी दूसरी व्युत्पत्ति दी जाती है—‘अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते अथवा प्रतिगतमाश्रितमक्षम् । अर्थात् वह ज्ञान जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है । यहां ज्ञान शब्द का प्रयोग सन्निकर्षध्वंस में अतिव्याप्ति रोकने के लिए है जबकि इन्द्रियार्थ शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि प्रत्यक्ष को दूसरे अनुमित्यादिक ज्ञानों से भिन्न किया जा सके । वात्स्यायन ने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार दी है—आत्मा मनसा सयुज्यते । मन इन्द्रियेण । इन्द्रियमर्थेनेति ।^१ यद्यपि यहां प्रत्यक्ष के लिए तीन सन्निकर्ष हैं किन्तु उसमें अन्तिम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इसलिये माना गया है कि प्रथम दो सन्निकर्षों की आवश्यकता तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त स्थलों में भी होती है । गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा देते समय तीन विशेषण और दिए हैं—अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम् । इनमें अव्यभिचारी का प्रयोग अप्रमा का निराकरण करने के लिए है क्योंकि ज्ञान तो अप्रमा भी होता है । अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष को बतलाते हैं । अन्नम्भट्ट की परिभाषा में प्रत्यभिज्ञा और मानसप्रत्यक्ष भी आ जाते हैं । मानसप्रत्यक्ष में मन को ही इन्द्रिय स्वीकार कर लिया जाता है ।

इस परिभाषा में यह दोष माना जाता है कि ईश्वर-प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं माना जाएगा क्योंकि वह नित्य है अतः उसमें इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य ज्ञान नहीं है । किन्तु यहाँ ईश्वर-प्रत्यक्ष को लक्ष्यभूत न मानकर लक्षण दिया गया है । न्यायबोधिनी में प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा दी है—ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्ष में किसी पूर्व ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती । अनुमिति में व्याप्तिज्ञान की, शाब्द में शब्दज्ञान की, उपमिति में सादृश्य-ज्ञान की और स्मृति में अनुभव की आवश्यकता होती है । किन्तु यह परिभाषा भी इसलिए पूर्ण नहीं है, कि इसमें सविकल्पक प्रत्यक्ष का समावेश नहीं होता क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है । कुछ लोग सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते ही नहीं और उनके अनुसार यह परिभाषा शुद्ध है । किन्तु इस सम्बन्ध में बाद में कुछ कहेंगे । सिद्धान्तमुक्तावली में प्रत्यक्ष की परिभाषा इन्द्रियजन्यज्ञानम् दी है । किन्तु इसमें भी अन्नम्भट्ट की परिभाषा के समस्त दोष तो हैं ही, साथ ही यह भी दोष है कि इस प्रकार तो सभी ज्ञान

प्रत्यक्ष मान लिए जाएंगे क्योंकि मन की आवश्यकता सभी ज्ञानों में रहती है और मन भी एक इन्द्रिय ही है। अतः अन्नम्भट्ट की परिभाषा ही सर्वोत्तम है। जैसाकि न्यायबोधिनी ने कहा है कि यह परिभाषा गौतम से ली गई है अतः ईश्वर-प्रत्यक्ष का यदि इसमें समावेश नहीं होता, तो भी कोई दोष नहीं है और मानव ज्ञान का विचार करते समय उसमें दैवी ज्ञान के विचार को लाकर व्यामोह भी पैदा नहीं करना चाहिए। उदाहरणतः बुद्धि के जो भेदोपभेद दिए हैं, वह ईश्वरीय ज्ञान पर लागू नहीं हो सकते। ईश्वर को प्रत्यभिज्ञा या स्मृति भी नहीं होती क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है और सदा वर्तमानकालिक भी है। उसका निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं होता। उसे न अनुमान होता है, न उपमान ज्ञान। क्योंकि उसे सभी पदार्थों का सीधा प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार ईश्वर का प्रत्यक्ष सर्वथा भिन्न है और उसकी एक सर्वथा भिन्न परिभाषा ही दी जानी चाहिए। अतः तर्कसंग्रह का लक्षण निर्दोष मानना चाहिए।

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। अनित्य ज्ञान मनुष्यों का है और यह दो प्रकार का है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का है—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक ज्ञान छः प्रकार का है—पांच इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला और छठा मानस। अलौकिक ज्ञान तीन प्रकार का है—सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज।

वह सविकल्पक जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है, लौकिक है और दूसरा अलौकिक। अलौकिक ज्ञान तीन प्रकार का है। घट का प्रत्यक्ष होने पर तो घटत्व का ज्ञान होता है, सामान्य लक्षण है। ज्ञान लक्षण वह है जो एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान होता है जैसे चन्दन देखने पर उसकी सुगन्ध का ज्ञान। सुगन्ध न तो आंख से देखी जाती है और न दूरीपर स्थित चन्दन की सुगन्ध नाक से सूंधी ही जाती है। अतः उसका ज्ञान अलौकिक माना जाता है। योगज ज्ञान योगियों का ज्ञान है, जो उन्हें अतिमानवीय शक्तियों से प्राप्त होता है।^१ यहां योगज ज्ञान तर्कसिद्ध नहीं है और जो प्रथम दो प्रकार के ज्ञान हैं, वे वस्तुतः अनुमान के अन्तर्गत आने चाहिए। अन्नम्भट्ट ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया।

जैसाकि स्वयं ही लेखक ने अन्त में कहा है प्रत्यक्ष का करण इन्द्रिय

है। अनुमिति की परिभाषा से यदि तुलना करें तो यदि सन्निकर्ष प्रत्यक्षकरण है तो परामर्श अनुमितिकरण है ऐसी समानता दीख पड़ती है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है तो हमें ऐसा आभास होता है कि कुछ है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसे निष्प्रकारक भी कहते हैं। किन्तु कुछ अधिक निकटता होने पर हमें उस पदार्थ की विशेषता ज्ञात होती है। यह सविकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान में संसर्ग और प्रकारता का अवगाहन नहीं होता। उसमें विशेषण और विशेष्य असम्बद्ध रूप से उपस्थित रहते हैं। सविकल्पक ज्ञान में संसर्गता और प्रकारता रहती है तथा विशेषण और विशेष्य परस्पर सम्बद्ध रूप में प्रतीत होते हैं। प्रकार, जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, वह है जो एक ज्ञान विशेष को दूसरे ज्ञान विशेष से पृथक् करता है जिस प्रकार घटत्व वह प्रकार है जो घटज्ञान को पटज्ञान से पृथक् करता है। स्पष्ट है कि हम घट को तब तक सहप्रकारक नहीं जान सकते, जब तक हमें घटत्व का ज्ञान भी न हो। इसी सम्बन्ध में कहा गया है—नामूहीत-विशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसंक्रामति, संक्षेप में सप्रकारक ज्ञान पदार्थ का उसके गुणों सहित ज्ञान है जबकि निष्प्रकारक ज्ञान केवल पदार्थ मात्र का ज्ञान है। दीपिका में सविकल्पक की परिभाषा दी है—नामजात्यादिर्विशेषणविशेष्य-सम्बन्धावगाहि ज्ञानम्। अर्थात् जो पदार्थ और उसके गुणों में नाम, जाति आदि सम्बन्धों का ज्ञान कराए। जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है, तो केवल हमें उसकी सत्ता या भावरूपता का ज्ञान होता है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। इस समय हमारे पास घटत्व और घट का पृथक्-पृथक् एक वस्तु के रूप में ज्ञान होता है किन्तु दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता, अतः ये दोनों ज्ञान सम्बन्धानवगाही हैं। जब ये दोनों परस्पर घटत्वविशिष्ट घट के रूप में मिल जाते हैं तो यह ज्ञान सम्बन्धावगाही या सप्रकारक हो जाता है। इस प्रकार प्रथम हमें धर्मादि का ज्ञान होता है और तब हम उसे पदार्थ के साथ जोड़ते हैं। ये धर्मादि प्रधानतः चार हैं—गुण, क्रिया, जाति और संज्ञा। श्यामो देवदत्तो ब्राह्मणः पचति में श्याम गुण है, देवदत्त संज्ञा है, ब्राह्मणत्व जाति है, और पचति क्रिया है। पहले ये सभी धर्म पृथक्-पृथक् रूप से हमें ज्ञात होते हैं और पश्चात् समुदित रूप में।

इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान की आवश्यकता क्या है, यह प्रश्न आता है। सप्रकारक ज्ञान तो हमें प्रतिदिन अनुभव में आता ही है। किन्तु निष्प्रकारक ज्ञान का हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। इसके उत्तर में दीपिका में

कहा है—नागृहीतविशेषणा बुद्धिविशेष्यमुपसंक्रामति । इस प्रकार सप्रकारक ज्ञान के लिये ही वास्तविक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष आवश्यक है ।

यद्यपि सभी नैयायिक तो दो प्रकार के—निर्विकल्पक और सविकल्पक—ज्ञान मानते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में बौद्धों का बहुत मतभेद है । वे केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही सत्य मानते हैं और सविकल्पक को सत्य नहीं मानते । उनके अनुसार घर्मों की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है । सप्रकारक ज्ञान विषयगत नहीं है, विषयगत है और वंध्यापुत्र के समान अवास्तविक है । किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान पदार्थ की वास्तविक स्थिति का बोध कराता है ।^१ बौद्धों का यह सिद्धान्त उनके शून्यवाद पर आधारित है । किन्तु यहां हमारा तात्पर्य केवल इतना कहने से है कि सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सीधा ज्ञान नहीं है, प्रत्युत दो ज्ञानों का समूह होने से अनुमिति या उपमिति की तरह परोक्ष ज्ञान है ।

वस्तुतः इन्द्रिय संनिकर्ष से प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है । सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के बाद होता है । समुद्र में आने वाला जहाज दूर से काला पदार्थ सा दिखाई देता है । जैसे-जैसे वह निकट आता है, हमें उसके मस्तूल का अनुमान होता है, और हम उसे जहाज जान लेते हैं । इसी प्रकार घट ज्ञान में भी हमें घट जैसा कोई पदार्थ दीखता है, तब हम उसके घट होने का अनुमान करते हैं । यहां उपमान की प्रक्रिया काम करती है । घट को घट कहने के लिये शब्द ज्ञान भी आवश्यक है । इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः परोक्ष ही है । इस सम्बन्ध में बेन की डिडेक्टिव लॉजिक में पृ० ३६-३७ पर कहा गया है: “जब हम तथ्य या प्रत्यक्ष की बात करते हैं तो वस्तुतः यह एक पूर्णतः अकेला या व्यक्तिगत ज्ञान नहीं होता । हम कहते हैं कि अमुक स्थान पर पानी बहता है । किन्तु यह एक ज्ञान का परिणाम नहीं है । इस प्रकार का ज्ञान करने के लिए अनेक ज्ञान चाहिए । पूर्व ज्ञान के आधार पर हम जानते हैं कि हम कुतुबनुमा को देख रहे हैं और इसका मुख उत्तर की ओर है । इस प्रकार साधारण प्रत्यक्ष भी आन्तरिक ज्ञान और अनुमान का मिश्रण है और हम इन दोनों को मिलाते हैं, यह हमारे बहुत सारे प्रत्यक्ष ज्ञानों का गलत होने का कारण है ।”

जब बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं तो क्या वे ठीक नहीं हैं ?

नैयायिक सविकल्पक ज्ञान को कैसे प्रत्यक्ष मानते हैं ? किन्तु हम यदि बौद्धमत का स्वीकार कर लें, तो हमें शून्यवाद भी मानना पड़ेगा क्योंकि यदि निर्विकल्पक ज्ञान ही माना जाए, तो कोई भी मानसिक चित्र हम बना ही न सकेंगे, और संसार में सब शून्य ही रह जयेगा। सविकल्पक ज्ञान भी हमारे मानसिक चित्रों का आधार है। यदि हम इसे न मानें तो संसार की सत्ता ही नहीं रह जाती और न हमें ज्ञान ही हो पाएगा।

यह वस्तुतः ऐसी समस्या है जो प्रत्येक प्रत्यक्ष के मूल में रहती है। इस सम्बन्ध में नव्यनैयायिकों ने जो समाधान दिया है, वह कुछ सीमा तक सन्तोषजनक होने के कारण उल्लेखनीय है। उनके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान न प्रत्यक्ष है, न अनुमिति, न अनुभव, न बुद्धि, न व्यवहार। इसे न प्रमा कह सकते हैं, न अप्रमा। क्योंकि इसमें कोई प्रकारता नहीं रहती। यह ज्ञान है, किन्तु एक विशेष प्रकार का ज्ञान है क्योंकि इसमें विशेष्य, प्रकार और संसर्ग का ज्ञान नहीं होता। अतः इसे बुद्धि के अन्तर्गत और प्रत्यक्ष के भेद के रूप में नहीं रखना चाहिए। प्रत्युत इसे अनुभव मानना चाहिए और उसके ही दो भेद निर्विकल्पक और सविकल्पक करने चाहिए तथा सविकल्पक के दो भेद प्रमा और अप्रमा मानने चाहिए। निर्विकल्पक ज्ञान, जिसमें कोई प्रकार का ज्ञान नहीं होता, सैनसेशन कहा जा सकता है। जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कह सकते हैं। कान्ट ने भी अनुभव के ये ही दो भेद किए हैं। प्रोफेसर फ्लोमिंग अपनी बोकेबिलरी ऑफ फिलासफी पृष्ठ ४४३ में कहते हैं कि सैनसेशन वह मानसिक परिवर्तन है जो किसी इन्द्रिय के द्वारा कोई सन्देश आने पर मन में होता है। इसमें हमें केवल मन की चेतना में होने वाले परिवर्तन का ज्ञान होता है, बाह्य पदार्थ का नहीं। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिससे हम पदार्थ के धर्मों का ज्ञान करते हैं और यह हमारा ज्ञान हमें बाह्य पदार्थ का बोध कराता है। राइड और काण्ट ने यह भेद किया है। इस प्रकार हम यदि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान में भी यह भेद स्वीकार कर लें तो कुछ सीमा तक समस्या का समाधान हो जाता है।

सविकल्पक ज्ञान के अनेक भेद हैं जैसे प्रत्यक्ष अनुमित्यादि। सविकल्पक प्रत्यक्ष की इन्द्रियसंनिकर्षजन्य परिभाषा भी बहुत अनुपयुक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि सभी ज्ञानों में संनिकर्ष रहता है और सविकल्पक प्रत्यक्ष भी केवल संनिकर्ष से पैदा नहीं होता, किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष का संनिकर्ष जिस प्रकार सीधा कारण है, उस प्रकार अनुमिति इत्यादि का नहीं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में जो ज्ञान हमें उपलब्ध होते हैं, और जिनके मिलने से वह बनता है, वे सभी

संनिकर्ष से प्राप्त होते हैं किन्तु अनुमिति इत्यादि में यह आवश्यक नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान और एक पदार्थ के अनेक गुणों को मिलाने की प्रक्रिया जिससे कि सविकल्पक ज्ञान होता है, अर्थात् व्यापार कही जा सकती है।^१ केशवमिश्र ने इस प्रकार का प्रयास किया है किन्तु उस प्रयास में यह दोष है कि वह करण और व्यापार को केवल एक सापेक्ष विचार मात्र मान लेते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष के लिए तीन करण और व्यापार के युगल बनाए हैं— इन्द्रिय, इन्द्रियसंनिकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान। जब निर्विकल्पक ज्ञान फल होता है, तो इन्द्रिय करण है, और संनिकर्ष व्यापार। जब सविकल्पक फल है तो संनिकर्ष करण है और निर्विकल्पक व्यापार। जब ज्ञान से प्राप्त होने वाली इच्छा फल है तो निर्विकल्पक करण है और सविकल्पक व्यापार। किन्तु परवर्ती लेखकों को यह स्वीकार नहीं है।

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसंनिकर्षः षड्विधः—संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति। चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः संनिकर्षः। घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः संनिकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः संनिकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्। श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः संनिकर्षः, कर्णविवरवृत्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात्, शब्दस्याकाशगुणत्वात्, गुणगुणिनोश्च समवायात्। शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः संनिकर्षः श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः संनिकर्षः, 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्। एवं संनिकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तत्करणमिन्द्रियम्। तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम् ॥

प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रिय और पदार्थ का संनिकर्ष छः प्रकार का है— संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण-विशेष्य भाव। आंख से घट का प्रत्यक्ष होने में संयोग संनिकर्ष है। घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवायसंनिकर्ष है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से होता है। रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त-

समवेतसमवायसंनिकर्ष है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसमें रूपत्व समवाय सम्बन्ध से है। श्रोत्र से शब्द का साक्षात्कार करने में समवाय संनिकर्ष है क्योंकि कान के छिद्र में जो आकाश (शून्य स्थान) है वह श्रोत्र है और शब्द आकाश का गुण है तथा गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। शब्दत्व के साक्षात्कार में समवेतसमवाय संनिकर्ष है क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है, अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषण-विशेष्य-भाव संनिकर्ष होता है क्योंकि भूतल घटाभाववत् है यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है। इस प्रकार छः संनिकर्षों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है; उसका साधन इन्द्रियां हैं। अतः इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यह सिद्ध होता है।

(त. दी.)—इन्द्रियार्थसंनिकर्षं विभजते—प्रत्यक्षेति । संयोगसंनिकर्ष-मुदाहरति—चक्षुषेति । द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोगः संनिकर्ष इत्यर्थः । आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते । संयुक्त-समवायमुदाहरति—घटरूपेति । तत्र युषितमाह—चक्षुःसंयुक्त इति । संयुक्त-समवेतसमवायमुदाहरति—रूपत्वेति । समवायमुदाहरति—श्रोत्रेणेति । तदुप-पादयति—कर्णेति । ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रसंबन्ध इति चेत्,—न; वीचीतर-ङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रवेशे जातस्य शब्दस्य श्रोत्रसंबन्धात्प्रत्यक्षत्वसंभवात् । समवेतसमवायमुदाहरति—शब्दत्वेति । विशेषणविशेष्यभावमुदाहरति—अभावेति । तदुपपादयति—घटाभाववदिति । 'भूतले घटो नास्ति' इत्यत्र घटाभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम् । एतेनानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम् । यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत । दर्शना-भावान्नास्तीति तर्कितप्रतियोगिसत्त्वबिरोध्यनुपलब्धिसहकृतेन्द्रियेणैवाज्ञानोपपत्ता-वनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वासंभवात् । अधिकरणज्ञानार्थमपेक्षणीयेन्द्रियस्यैव करणत्वोपपत्तावनुपलब्धेः करणत्वस्यायुक्तत्वात् । विशेषणविशेष्यभावो विशेषण-विशेष्यस्वरूपमेव, नातिरिक्तः संबन्धः । प्रत्यक्षज्ञानमुपसंहरंस्तस्य करणमाह—**एवमिति** । असाधारणकारणत्वादिन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणमित्यर्थः । प्रत्यक्षमुप-संहरति—तस्मादिति ॥

ऊपर हमने इन्द्रिय और पदार्थ के संनिकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानी है। यहां इन्द्रिय और पदार्थ का यह संनिकर्ष कितने प्रकार का हो सकता है, यह चर्चा की गई है। इनमें से तीन संनिकर्ष, संयोग, समवाय

और विशेषण-विशेष्यता मौलिक हैं। शेष तीन पहले दो के समन्वय से बनते हैं। वे तीन हैं—संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय और समवेत-समवाय। चक्षुरिन्द्रिय घटादि पदार्थों के सीधा सम्पर्क में आते हैं और यह सन्निकर्ष संयोग कहलाता है। चक्षु घट के गुण, रूप, को और घट में रहने वाली घटत्व जाति को भी ग्रहण करता है, किन्तु चक्षु स्वयं द्रव्य है और इसलिए घट-द्रव्य के गुण और जाति से इसका सीधा सम्पर्क नहीं होता। अतः घट-रूप और घटत्व के साथ सन्निकर्ष संयुक्त-समवाय कहलाता है, क्योंकि रूप और घटत्व दोनों घट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और घट का चक्षु से संयोग होता है। घट-रूप-गत रूपत्व जाति भी चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण होती है, क्योंकि 'येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तद-भावश्च गृह्यते'^१ अर्थात् जो इन्द्रिय किसी पदार्थ को ग्रहण करती है, वही उसकी जाति, समवाय और अभाव को भी ग्रहण करती है। अतः घट-रूपत्व चक्षु द्वारा संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष से ग्रहण होता है। यहां घट का इन्द्रिय के साथ संयोग रूप के साथ संयुक्त-समवाय और रूपत्व के साथ संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष है। चौथा सन्निकर्ष समवाय-सन्निकर्ष है, जोकि श्रोत्र द्वारा शब्द के ग्रहण करने पर होता है। श्रोत्र आकाश-रूप है और शब्द उसका गुण होने के कारण उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। यहां केवल श्रोत्रेन्द्रिय की चर्चा है क्योंकि दूसरी इन्द्रियां जैसे—चक्षु, घ्राण और रसना क्रमशः तेज, पृथ्वी और जल के विकार से बनती हैं। किन्तु श्रोत्र स्वयं आकाश ही है, आकाश के विकार से बनने वाली इन्द्रिय नहीं है। अतः शब्द का श्रोत्र से सीधा समवाय सम्बन्ध है। शब्द का ग्रहण समवाय से होता है तो स्वभावतः ही शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति, शब्दत्व, का ग्रहण समवेत-समवाय सम्बन्ध से होगा।

चक्षु के अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय भी सीधा पदार्थ को ग्रहण करती है। किन्तु घ्राण, रसना और श्रोत्र केवल गुण को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां हैं। छः इन्द्रियां होने के कारण प्रत्यक्ष भी घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पर्शन, श्रोत्रिय और मानस छः प्रकार का माना गया है।^२ द्रव्य तो, जैसाकि हमने ऊपर कहा, चक्षु और स्पर्श से ही ग्रहण होते हैं शेष चारों इन्द्रियां केवल गुणों

१. तर्ककौमुदी, पृ० १०

२. घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं स्मृतम्—भाषापरिच्छेद, ५२

का ग्रहण करती हैं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार किसी द्रव्य मात्र का प्रत्यक्ष उद्भूत-रूप के बिना नहीं होता। किन्तु नव्यनैयायिकों के अनुसार त्वाच प्रत्यक्ष में उद्भूत-स्पर्श को ही कारणता है, रूप को नहीं। विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में कहा है—

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः ।

रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम् ॥^१

इस कारिका में विश्वनाथ ने बीच का मार्ग अपनाया है। रूप के अतिरिक्त शेष पदार्थ त्वगिन्द्रिय से भी ग्रहण हो जाते हैं, किन्तु उनमें भी उद्भूत रूपत्व है अवश्य। इस प्रकार केवल उन्हीं पदार्थों का त्वक् द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है जो चक्षु द्वारा भी ग्राह्य हों। अन्नम्भट्ट ने वायु को प्रत्यक्ष-गोचर नहीं माना है, स्पर्श द्वारा अनुमेय माना है। इससे स्पष्ट है कि वे रूप की प्रत्यक्ष-मात्र में कारणता मानते हैं। सुख और दुख का मानसप्रत्यक्ष होता है। किन्तु आत्मा नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष-गोचर है, वैशेषिकों के अनुसार नहीं।^२ इस विषय में अन्नम्भट्ट वैशेषिक मत मानते हैं।

द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य प्रथम पांच प्रकार के सन्निकर्ष से जान लिए जाते हैं। किन्तु विशेष परमाणु का धर्म है और प्रत्यक्ष-गोचर नहीं है। समवाय और अभाव विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष द्वारा जाने जाते हैं। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ का कहना है—अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रिय-संबद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः।^३ नैयायिकों के अनुसार समवाय विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा प्रत्यक्ष-गोचर है, वैशेषिकों के अनुसार नहीं। अन्नम्भट्ट समवाय को अनुमानगम्य ही मानते हैं। अतः उनके अनुसार विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा केवल अभाव का प्रत्यक्ष होता है। अभाव का ज्ञान संयोग या समवाय द्वारा तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह स्वयं तो होता नहीं, और न किसी दूसरे पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रह सकता है, क्योंकि न यह गुण है, न कर्म, न जाति। इसका प्रत्यक्ष कैसे होगा? नैयायिकों का कहना है कि यह अधिकरण का धर्म होता है। अतः भूतल घटाभाववान् है, यहां

१. भाषापरिच्छेद, ५६

२. उपरिवत्, ५०

३. सिद्धान्तमुक्तावली, १३८

घटाभाव भूतल का विशेषण है, और भूतल विशेष्य है। उनका परस्पर विशेषण-विशेष्य-भाव है, जो वत् प्रत्यय द्वारा ज्ञात होता है। हम भूतल देखते हैं, उस पर घट नहीं देखते, भूतल को हम संयोग सबंध द्वारा जानते हैं। किन्तु घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग द्वारा भूतल पर जाना जा सकता है। इस प्रकार भूतल पर घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग और भूतल और घटाभाव के परस्पर सम्बन्ध अर्थात् विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार घटाभाव संयुक्त-विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा जाना जाता है। अब यदि इसे दो भागों में विभक्त करें तो घटाभाव और भूतल का विशेषण सम्बन्ध और भूतल का घटाभाव से विशेष्य का सम्बन्ध है। इस प्रकार घटाभाव के प्रत्यक्ष में दो सन्निकर्ष होते हैं—इन्द्रिय का भूतल से सन्निकर्ष और भूतल का घटाभाव से सन्निकर्ष। घट को हम एक ही सन्निकर्ष से जान सकते हैं; किन्तु क्योंकि घटाभाव दो प्रकार से कहा जा सकता है—१. भूतल घटाभाववान् है, २. भूतल पर घटाभाव है; इसलिए यहाँ दो सन्निकर्ष माने गये हैं। इन दोनों को ही संक्षेप में विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष कह दिया गया है।

यहाँ दीपिका में मीमांसक और वेदान्तियों द्वारा माने गए अनुपलब्धि नामक प्रमाण की भी चर्चा है। मीमांसक और वेदान्ती यह मानते हैं कि इन्द्रिय और अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि द्वारा होता है। नैयायिकों का कहना है कि अभाव का प्रत्यक्ष भी उसीके द्वारा होता है जिस द्वारा अभाव के प्रतियोगी का, किन्तु इसके लिए विशेषण-विशेष्य-भाव नाम का सन्निकर्ष मानना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि मीमांसक और वेदान्ती एक प्रमाण अधिक मानते हैं और नैयायिक एक सन्निकर्ष अधिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में दोनों मतों में पर्याप्त विवाद है। वेदान्तपरिभाषा में प्रमाण के सम्बन्ध में यह कहा गया है—न हि फली-भूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियमत्वमस्ति। दशमस्त्व-मसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्न-प्रमाणत्वाभ्युपगमात्।^१ इससे वेदान्त के प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में मत पर प्रकाश पड़ता है। नैयायिक प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु अन्य दर्शन अनुपलब्धि-प्रमाण या शब्द-प्रमाण द्वारा भी प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। नैयायिकों का प्रत्यक्ष का सिद्धान्त भौतिक सम्बन्ध

पर आधारित है । सभी ज्ञान आत्मा में रहने वाले गुण हैं और इन्द्रिय एवं बाह्य पदार्थों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं । इसी कारण नैयायिक और वैशेषिक प्रधानतः वस्तुवादी दर्शन हैं, और इसी कारण उनका वेदान्तियों ने खंडन किया है ।

अनुमितिकरणमनुमानम् । परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः । व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः । यथा 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानं परामर्शः । तज्जन्यं 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिः । 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः । व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता ॥

अनुमिति का करण अनुमान है । परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है । व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है । जैसे 'यह पर्वत वह्निव्याप्य (वह्निव्याप्ति विशिष्ट) धूम वाला है'—यह ज्ञान परामर्श है, इससे उत्पन्न होने वाला 'पर्वत वह्निमान्' है—यह ज्ञान अनुमिति है । 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है' यह साहचर्य नियम व्याप्ति है । व्याप्य का पर्वतादि में रहना पक्षधर्मता है ।

(त. दी.)—अनुमानं लक्षयति—अनुमितिकरणमिति । अनुमिते-लक्षणमाह—परामर्शेति । ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, स्थाणुपुरुषसंशयानन्तरं, पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सति, पुरुष एवेति प्रत्यक्षजननात् । न च तत्रानुमितिरेवेति वाच्यम् । 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायविरोधादिति चेत्,—न; पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात् । सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्धयभावः पक्षता । साध्यसिद्धिरनुमितिप्रतिबन्धिका सिद्धि-सत्त्वेऽपि 'अनुमिनुयाम्' इतीच्छायामनुमितिदर्शनात् सिषाधयिषोत्तेजिका । ततश्चोत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य दाहकारणत्ववत् सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्धयभावस्याप्यनुमितिकारणत्वम् ॥ परामर्शं लक्षयति—द्व्याप्तीति । व्याप्तिविषयकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श इत्यर्थः । परामर्शमभिनीय दर्शयति—यथेति । अनुमितिमभिनयति—तज्जन्यमिति । परामर्शजन्यमित्यर्थः ॥ व्याप्तेर्लक्षणमाह—यत्रेति । यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तेरभिनयः । साहचर्यनियम इति लक्षणम् । साहचर्यं सामानाधिकरण्यं, तस्य नियमः । हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थः । पक्षधर्मतास्वरूपमाह—व्याप्यस्येति ॥

अनुमान

अनुमान प्रकरण के अन्तर्गत न्याय वैशेषिक दर्शन द्वारा विकसित की गई भारतीय तर्कशास्त्र की परम्परा आती है। अनुमान साधन है अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श का इसलिए अधिक महत्त्व है कि यदि परामर्श ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भी शुद्ध होगा। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्त्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिस से किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ-साथ रहते हैं।

हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति—यदि इन तीन को समझ लिया जाए तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। साध्य तो वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। साध्य का अनुमान हेतु और साध्य के सम्बन्ध, अर्थात् व्याप्ति, से होता है। पाश्चात्य न्यायदर्शन में हेतु और साध्य को कह तो दिया जाता है किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध लक्षणा से ही जानना पड़ता है किन्तु भारतीय न्याय में वह सम्बन्ध भी स्पष्ट कर दिया जाता है। यह सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक-भाव रूप है। व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय साहचर्य दर्शन से होता है। इस नियमित साहचर्य को ही व्याप्ति कहते हैं। एतादृश व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श में व्याप्ति हेतु में विशेषण बनती है और हेतु पक्ष में।

अतः लेखक ने परामर्श का लक्षण व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान बतलाया है। किन्तु वह हेतु व्याप्ति-विशिष्ट के साथ-साथ पक्षधर्मताविशिष्ट भी होना चाहिए। वस्तुतः हेतु-व्याप्तिविशिष्ट तो होता है, क्योंकि जब हम 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' कहते हैं तब हेतुधूम का वह्नि के साथ व्याप्तिसम्बन्ध तो स्पष्ट हो ही जाता है, किन्तु यही पर्याप्त नहीं है। हेतु व्याप्तिविशिष्ट होने के साथ-साथ पक्ष में रहने वाला धर्म भी होना चाहिए। इस प्रकार ये दोनों मिलकर परामर्श को जन्म देते हैं। प्रसिद्ध न्यायवाक्य में परामर्श का यह स्वरूप होगा—वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः। इस स्थान पर हेतु पक्ष धर्म भी है और व्याप्तिविशिष्ट भी है।

यह बात पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही न्याय पद्धतियों पर लागू

होती है। पाश्चात्य न्यायपद्धति में हेतु और साध्य की व्याप्ति बतलाई जाती है और तब उस हेतु को पक्ष में बतलाया जाता है। किन्तु न्याय में हेतु पक्ष में पहले बतलाया जाता है और साध्य से उसकी व्याप्ति बाद में बतलाई जाती है। अर्थात् अरस्तू पहले व्याप्ति को और फिर पक्षधर्मता को बतलाता है जबकि न्याय पक्षधर्मता को पहले और व्याप्ति को बाद में बतलाता है। यों कहें कि भारतीय न्याय पद्धति में परामर्श व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान है जब कि पाश्चात्य न्यायपद्धति में परामर्श पक्षधर्मताविशिष्टव्याप्तिज्ञान है। न्यायदर्शन के अनुसार अरस्तू के निम्न न्याय-वाक्य में सुकरात मरणधर्मत्व-व्याप्यमनुष्यत्वयुक्त है यह भी कहना चाहिये।

सब मनुष्य मरणधर्मा हैं

सुकरात मनुष्य है

अतः सुकरात मरणधर्मा है

किन्तु इससे परिणाम में कोई अन्तर नहीं होता, केवल प्रक्रिया का भेद है।

ऊपर जो चर्चा की है उसका निष्कर्ष यह है कि नैयायिकों की अनुमिति परामर्श पर आधारित है। इस परामर्श की आलोचना भी हुई है। पाश्चात्य न्यायशास्त्र से परिचित लोगों ने इसे अनावश्यक भी बतलाया है और व्यर्थ में बाल की खाल निकालने वाली बात कही है किन्तु कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों की स्थिति बनाये रखने के लिये परामर्श स्वाभाविक और अनिवार्य है।

अनमिति—

केशवमिश्र ने अनुमान के ये दो अंग बताये हैं—अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यसिद्धिः। हेतोः पक्षधर्मताबलात् साध्यस्य पक्षधर्मत्वविशेषः सिध्यति।^१ अतः यह अनुमान में व्याप्ति, साध्य और हेतु का सम्बन्ध, सामान्य रूप में बताती है और पक्षधर्मता में वही सम्बन्ध विशेष रूप से पक्ष के बारे में बतलाया जाता है। अतः अनुमान हेतु द्वारा पक्ष में साध्य का ज्ञान कराता है। अनुमान का अर्थ वात्स्यायन ने मितेन लिङ्गोन्वयस्य पश्चान्मानम्' किया है।^२ उन्होंने अनुमान का

१. तर्कभाषा, पृ० ४३

२. वात्स्यायनभाष्य, गौतम सूत्र, १.१.३.

'लिर्गालिगिनोः संबन्धदर्शनम्' अथवा 'प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य संबन्धस्य प्रतिपत्तिः' अर्थ भी किया है।^१ इस परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष द्वारा अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान है। जो लक्षण तर्कसंग्रह में है, (परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः) उस पर दीपिकाकार ने यह आपत्ति उठाई है कि वह लक्षण तो संशयोत्तर प्रत्यक्ष पर भी लागू होगा क्योंकि वह भी परामर्श से होता है अर्थात् दूरी से किसी पदार्थ को देखकर हमें यह संशय होता है कि यह व्यक्ति है या वृक्ष, और तब हम 'इसके तो हाथ इत्यादि हैं' आदि परामर्श से उसे पुरुष जान लेते हैं। अब यह अनुमिति तो नहीं है किन्तु यह परामर्श है। वात्स्यायन की परिभाषा में यह दोष नहीं है। दीपिका ने इस दोष का समाधान किया है। दीपिकाकार का कहना है कि यह वस्तुतः अनुमिति नहीं है क्योंकि 'यहां मुझे अनुमान होता है' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता। दीपिका का कहना है कि यद्यपि यहां परामर्श तो है किन्तु पक्षता नहीं है।

यहां पक्षता को समझ लेना जरूरी है। जब हम यह कहते हैं कि सुकरात मरणधर्मा है तो हम यह तो पहले ही जानते हैं कि मरणधर्मता मनुष्य में होती है। मनुष्यों में सुकरात भी सम्मिलित ही है। किन्तु यहां वह पक्ष है और यहां हमने उसे मनुष्यों से पृथक् मान लिया है। प्रत्येक पर्वत पक्ष नहीं है। जिस पर्वत पर हम वह्नि सिद्ध करना चाहते हैं वही पक्ष होगा, हर पर्वत नहीं। पक्ष की व्याख्या है—सिद्धयभाववान्। साध्यवान् पक्षः कहने से ही काम नहीं चलेगा क्योंकि पक्ष में चाहे वह्नि हो, किन्तु हमें यह ज्ञात नहीं होता। हमें यही ज्ञात होता है कि वहां वह्नि के निश्चय का अभाव है। जहां वह्नि का निश्चय हो वहां पक्षता नहीं होगी। परार्थानुमान में हमें वह्नि का तो निश्चय होता है किन्तु तब भी हम वहां वह्नि सिद्ध करना ही चाहते हैं। अतः सिद्धयभाव का अर्थ 'सिषाधयिषाविरह' है अर्थात् वहां हमें यदि सिद्ध करने की भी इच्छा न हो तभी पक्षता न होगी, अन्यथा होगी।^२ परार्थानुमान में सिषाधयिषाविरह नहीं होती। अतः पक्षता के लिए या तो साध्य अनिश्चित होना चाहिए (जैसा कि स्वार्थानुमान में) या सिद्ध करने की इच्छा होनी चाहिए (जैसा कि परार्थानुमान में)। संशयोत्तर प्रत्यक्ष में ये दोनों बातें नहीं होतीं, क्योंकि

१. वात्स्यायनभाष्य, गौतमसूत्र, १.१.५ तथा २.२.२.

२. सिद्धान्तमुक्तावली, कारिका ७० (पृ० १७३)

वहाँ करादि दीख ही जाते हैं और साध्य सिद्ध करने की कोई इच्छा नहीं होती। पक्षता की यह परिभाषा अन्नम्भट्ट ने गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि से ली है। सदिग्धसाध्यवान् लक्षण देने पर जो घर में बिजली की गड़गड़ाहट सुनकर व्यक्ति आकाश में मेघों का अनुमान करता है, वहाँ अनुमान तो होगा किन्तु पक्षता नहीं। क्योंकि यहाँ न तो सिद्ध्यभाव है न सिषाधयिषा। क्योंकि बिजली की गड़गड़ाहट सुनते ही बादलों का अनुमान इतनी शीघ्रता से होता है कि बीच में कुछ भी अन्तराल ही नहीं होता। यह सब तुरन्त और स्वयं ही होता है। अतः न्यायबोधिनी कहती है कि नव्यनैयायिकों ने प्राचीन नैयायिकों का लक्षण छोड़कर नया लक्षण दिया है—अनुमित्युद्देश्यत्वम् अथवा अनुमितिप्रयोजनकत्वम्। सिद्धान्तमुक्तावली में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि अनुमान सिद्ध करने की इच्छा एक बार होकर दूसरी बार भी हो ही सकती है।

पक्षधर्मता—अब हम पक्षता को समझने के बाद पक्षधर्मता को समझ सकते हैं। पक्षधर्मता का अर्थ है—(हेतोः) 'पक्षवृत्तित्वम्' या 'पक्षसंबन्धः' अर्थात् हेतु का पक्ष में रहना। किन्तु पर्वत पर धूम के अतिरिक्त वृक्ष इत्यादि भी रहते हैं किन्तु वह्निका अनुमान केवल धूम से ही होता है। उसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि वह्निका अनुमान प्रकाश या जली हुई राख आदि से भी हो सकता है किन्तु धूम से वह्निका अनुमान की प्रक्रिया में इस का कोई उपयोग नहीं है। अतः सब पक्षधर्म नहीं हैं। इसी प्रकार पर्वत पर रहने वाला धूम ही पक्ष धर्म है, अन्य धूम नहीं क्योंकि पर्वत पर रहने वाले धूम से वह्निका अनुमान होता है। हमें धूम और वह्निका व्याप्ति-ज्ञान से तब तक कोई लाभ न होगा जब तक पर्वत पर धूम रेखा दिखाई न पड़े। इसलिए परामर्श को पक्षधर्मता का ज्ञान कहा गया है। केवल पर्वत पर धूम देख लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु वह धूम ऐसे पर्वत पर होना चाहिए जो पक्ष भी हो। अतः पक्षधर्मता का लक्षण है—पक्षता-वच्छेदकावच्छिन्नविषयता। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है—कि पक्षता का जो अवच्छेदक है पर्वतत्व उससे जो अवच्छिन्न धूम है, वह पक्षधर्मता है। यह पक्षधर्मता अनुमान का कारण बनती है। किन्तु इसके साथ व्याप्ति का ज्ञान भी चाहिए। इसीलिये अनुमिति का कारण व्याप्ति-